आत्मधर्म

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र

दंसणमूलो धम्मो

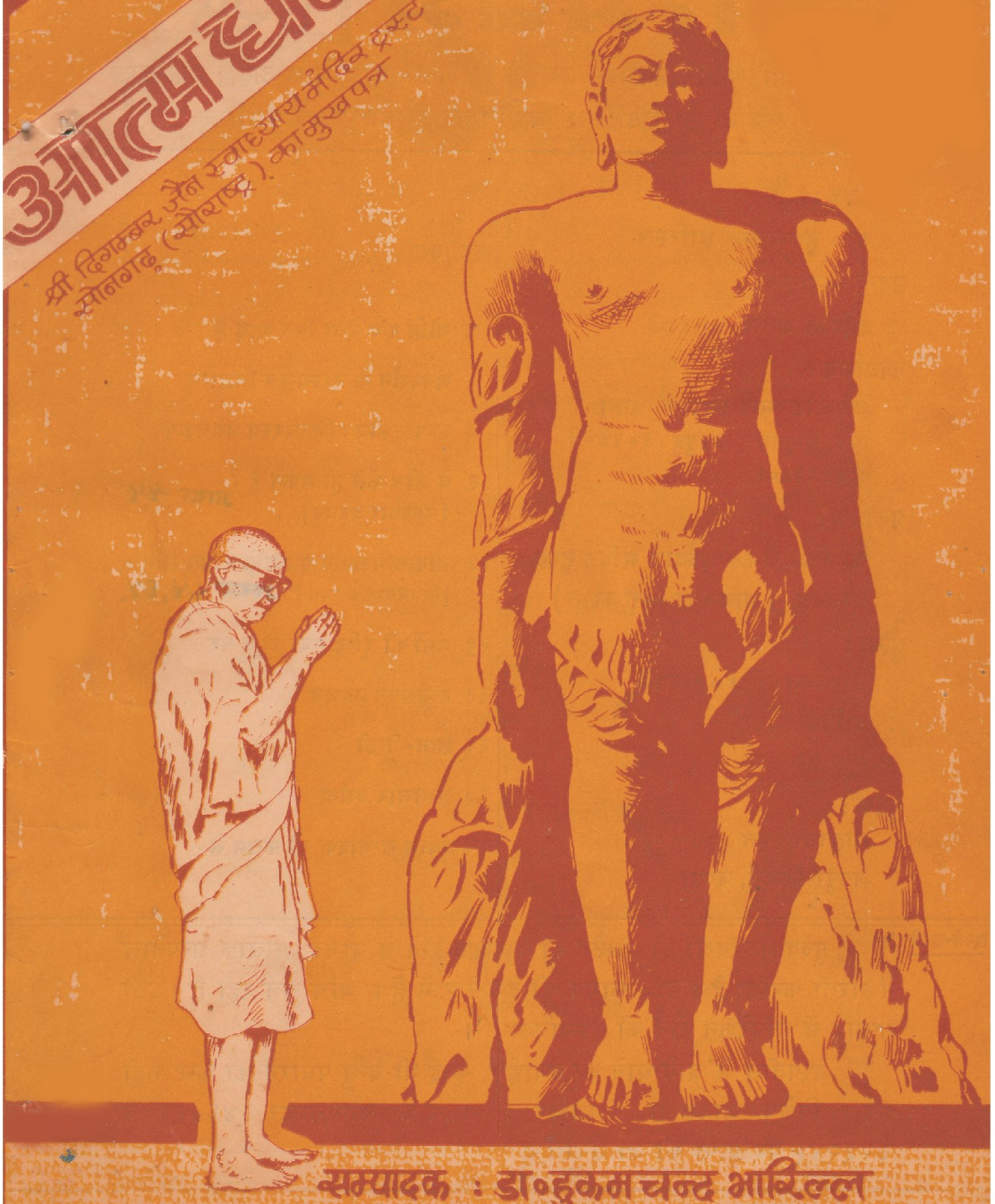

सम्पादक : डा० हुकमचन्द भारिल्ल

वर्ष ३६ : अंक ५ [४२५] नवम्बर, १९८०

आत्मधर्म [४२५]

[हिन्दी, गुजराती, मराठी, तामिल तथा कन्नड़ — इन पाँच भाषाओं में प्रकाशित
जैन समाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला आध्यात्मिक मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक : **अखिल बंसल**

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन, जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

कहाँ / क्या

१ मोहि कब ऐसा दिन आय है
२ जैनदर्शन के रहस्यभूत सिद्धांत
३ संपादकीय : जिनवरस्य नयचक्रम्
४ वे जीव कैसे हो सकते हैं ?
[समयसार प्रवचन]
५ आदाननिक्षेपण एवं प्रतिष्ठापन समिति
[नियमसार प्रवचन]
६ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
७ ज्ञान-गोष्ठी
८ समाचार दर्शन
९ प्रबंध संपादक की कलम से

छपते-छपते

पूज्य गुरुदेवश्री को प्रोस्टेट की तकलीफ होने से बम्बई जसलोक अस्पताल में भर्ती कराया है। डॉ० कामत की देख-रेख में हैं। जाँच चल रही है। इसी सप्ताह में ऑपरेशन होने की संभावना है।

अस्पताल में जाने-आने की मनाई है, कोई भी बंधु पधारने का कष्ट नहीं करें। विशेष जानकारी सीमंधर जिनालय के फोन नंबर ३४६०९९ व ३२५२४१ पर प्राप्त की जा सकती है।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३६ [४२५] अंक : ५

मोहि कब ऐसा दिन आय है ॥मोहि० ॥
सकल विभाव अभाव होहिंगे,
विकलपता मिट जाय है ॥मोहि० ॥
यह परमातम यह मम आतम,
भेदबुद्धि न रहाय है।
औरनि की का बात चलावै,
भेद-विज्ञान पलाय है ॥मोहि० ॥
जानैं आप आप मैं आपो,
सो व्यवहार बिलाय है।
नय परमान निखेपन माहीं,
एक न औसर पाय है ॥मोहि० ॥
दरसन ज्ञान चरन के विकलप,
कहो कहाँ ठहराय है।
'द्यानत' चेतन चेतन ह्वै है,
पुद्गल पुद्गल धाय है ॥मोहि० ॥

जैनदर्शन के रहस्य सिद्धांत

- ❖ एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं है, स्पर्श नहीं करता, तथा उसका चुंबन नहीं करता।
- ❖ प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
- ❖ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु में प्रति समय होनेवाला उत्पाद उत्पाद से ही होता है, उसे ध्रुव या व्यय की भी अपेक्षा नहीं है - तो परद्रव्य की अपेक्षा की बात ही क्या करना ?
- ❖ प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने षट्कारकों द्वारा स्वतंत्ररूप से होती है। उसे निमित्त की अपेक्षा तो है ही नहीं, परंतु अपने ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा बिना ही वह स्वतंत्रतया उत्पन्न होती है।
- ❖ पर्याय में पर्याय का ही वेदन होता है, ध्रुव का वेदन नहीं होता। ध्रुव का अवलंबन होता है, परंतु वेदन नहीं होता। तथा पर्याय में वेदन होता है, परंतु पर्याय का अवलंबन नहीं होता। अवलंबन ध्रुव का ही होता है और वेदन पर्याय का ही होता है।

चिद्विलास में पर्याय का क्षेत्र द्रव्य के क्षेत्र से भिन्न कहा है। पर्याय की सूक्ष्मता द्रव्य की सूक्ष्मता से भिन्न है। पर्याय का वीर्य पर्याय से और द्रव्य का वीर्य द्रव्य से, पर्याय की सत्ता पर्याय से, द्रव्य की सत्ता द्रव्य से है, पर्याय का कारण पर्याय है।

एक द्रव्य की अनंत पर्यायों में प्रत्येक में अनंत नृत्य हैं, एक-एक नृत्य में अनंत कला हैं, एक-एक कला में अनंत रस हैं, एक-एक रस में अनंत प्रभाव हैं,-एक-एक पर्याय की इतनी समृद्धि है तो अनंतानंत पर्यायों के पिंड द्रव्य की समृद्धि का क्या कहना ?

यह बात सूक्ष्म है, परंतु भाई ! घबराना नहीं। एक-एक पर्याय की इतनी प्रभुता है तो गुण और द्रव्य की प्रभुता का क्या कहना ? ऐसे सत् का सत्त्व सर्वज्ञता है। पहले ऐसी महिमा आना चाहिए कि मेरी पर्याय में इतना सामर्थ्य है तो द्रव्य के सामर्थ्य और महिमा की क्या बात कहना ? अहो..... ऐसी बात सुनने भी महाभाग से मिलती है। कितना पुण्य उपार्जित किया होगा तब यह बात सुनने को मिली। यह तत्त्व सूक्ष्म है, परंतु तुझे प्रयत्न तो शुरु कर देना चाहिए। प्रयत्न शुरु करे, फिर भले इस भव में कार्य न हो तो अगले भव में कार्य अवश्य होगा।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी [२२ एवं २३ सितम्बर की रात्रि-चर्चा में से]

निश्चय और व्यवहार

[गतांक से आगे]

यद्यपि अभूतार्थ होने पर भी निश्चय का प्रतिपादक होने से व्यवहार को जिनवाणी में स्थान प्राप्त हो गया है, तथापि अभूतार्थ होने से उसका फल संसार ही है। यही कारण है कि निश्चय उसका निर्दयता से निषेध करता है।

पंडितप्रवर जयचंदजी छाबड़ा **समयसार गाथा ११ के भावार्थ में** समयसार में शुद्धनय के उपदेश की प्रधानता का औचित्य सिद्ध करते हुए लिखते हैं:—

''प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं, और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलंबन (सहायक) जानकर बहुत किया है; किंतु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आता नहीं और उसका उपदेश भी विरल है—वह कहीं-कहीं पाया जाता है। इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि 'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से सम्यक्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है तब तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता।'—ऐसा आशय समझना चाहिए।''

यद्यपि यहाँ निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय के निषेध की ही चर्चा की गयी है तथापि शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के काल में तो निश्चयनय के विकल्प (पक्ष) का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि शुद्धात्मा की प्राप्ति नयपक्षरूप विकल्पों में उलझे व्यक्ति को नहीं, पक्षातीत-विकल्पातीत व्यक्ति को होती है।

व्यवहारनय के निषेध के बाद निश्चयनय का पक्ष (विकल्प) भी विलय को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि जब तक नयरूप विकल्प (पक्ष) रहता है, तब तक निर्विकल्प अनुभूति प्रगट नहीं होती।

समयसार की कथनशैली की चर्चा करते हुए पंडित जयचंदजी छाबड़ा लिखते हैं:—

''इस ग्रंथ में पहले से ही व्यवहारनय को गौण करके और शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्य के परिणाम परनिमित्त से अनेक होते हैं, उन सबको आचार्यदेव पहले से ही गौण कहते आये हैं और उन्होंने जीव को शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इसप्रकार जीवपदार्थ को शुद्ध, नित्य, अभेद, चैतन्यमात्र स्थापित करके अब कहते हैं कि—जो इस शुद्धनय का भी पक्षपात (विकल्प) करेगा, वह भी उस शुद्धस्वरूप के स्वाद को प्राप्त नहीं करेगा।

अशुद्धनय की तो बात ही क्या है? किंतु यदि कोई शुद्धनय का भी पक्षपात करेगा तो पक्ष का राग नहीं मिटेगा, इसलिए वीतरागता प्रगट नहीं होगी। पक्षपात को छोड़कर चिन्मात्रस्वरूप में लीन होने पर ही समयसार को प्राप्त किया जाता है।

इसलिए शुद्धनय को जानकर, उसका भी पक्षपात छोड़कर, शुद्धस्वरूप का अनुभव करके, स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतराग दशा प्राप्त करना चाहिए।''[१]

ध्यान रहे यहाँ पक्ष या पक्षपात का अर्थ विकल्प है। नय का पक्ष छोड़ने का अर्थ नयसंबंधी विकल्प को तोड़ना है। वस्तु नयपक्षातीत है अर्थात् विकल्पातीत है-यह समझना चाहिए।

समयसार की १४२वीं गाथा में आत्मा को पक्षातिक्रांत कहा गया है। उसकी टीका में आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं:—

''जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा जो विकल्प तथा 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा जो विकल्प वे दोनों नयपक्ष हैं। जो उस नयपक्ष का अतिक्रम करता है (उसे उल्लंघन कर देता है, छोड़ देता है), वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प, एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है। यहाँ (विशेष समझाया जाता है कि) जो 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ

---

१. समयसार कलश ७० का भावार्थ

भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता, और जो 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा विकल्प करता है, वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता; और जो यह विकल्प करता है कि 'जीव में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है' वह दोनों पक्ष का अतिक्रम न करता हुआ, विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। इसलिए जो समस्त नयपक्ष का अतिक्रम करता है, वही समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है; जो समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है—उसका अनुभव करता है।

भावार्थ- 'जीव कर्म से बंधा हुआ है' तथा 'नहीं बंधा हुआ है'—यह दोनों नयपक्ष हैं। उनमें से किसी ने बंधपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबंध पक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; और किसी ने दोनों पक्ष लिये तो उसने भी पक्षरूप विकल्प का ही ग्रहण किया। परंतु ऐसे विकल्पों को छोड़कर जो कोई भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता वही शुद्ध पर्याय का स्वरूप जानकर उसरूप समयसार को-शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। नयपक्ष को ग्रहण करना राग है, इसलिए समस्त नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है।''

इसके तत्काल बाद ६९वें कलश में वे कहते हैं:—

''य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांतचित्ता-
स्त एव साक्षादमृतं पिबंति॥

जो नयपक्षपात को छोड़कर सदा स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते हैं और जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शांत हो जाता है, वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

भावार्थ - जब तक कुछ भी पक्षपात (विकल्प) रहता है, तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है, तब वीतराग दशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।''

नयचक्र में कहा है कि नयों का प्रयोग विकल्पात्मक भूमिका में तत्त्वों का निर्णय करने के लिए ही होता है, आत्माराधना के समय नहीं। अनुभव के काल में तो नय संबंधी सर्व विकल्प विलय को प्राप्त हो जाते हैं। उक्त कथन करनेवाली गाथा इसप्रकार है:—

''तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आहारणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा॥[१]

तत्त्वान्वेषण काल में ही आत्मा युक्तिमार्ग से अर्थात् निश्चय-व्यवहार नयों द्वारा जाना जाता है, परंतु आत्मा की आराधना के समय वे विकल्प नहीं होते, क्योंकि उक्त समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।''

यहाँ यह बात बहुत सावधानी से समझनेयोग्य है कि यहाँ निश्चयनय का पक्ष छुड़ाया है, विकल्प छुड़ाया है; निश्चयनय का विषयभूत अर्थ नहीं। व्यवहारनय का मात्र पक्ष ही नहीं, विषयभूत अर्थ भी छोड़नेयोग्य है; पर निश्चयनय का मात्र पक्ष या विकल्प छोड़ना है, उसके विषयभूत अर्थ को तो ग्रहण करना है। निश्चयनय के विषयभूत अर्थ को ग्रहण करने में बाधक जानकर ही निश्चयनय के विकल्प (पक्ष) को भी छुड़ाया है।

ध्यान रहे शुद्धनय[२] शब्द का प्रयोग निश्चयनय के विकल्प के अर्थ में भी होता है और उसके विषयभूत अर्थ के अर्थ में भी। जहाँ निश्चयनय के पक्ष को छोड़ने की बात कही हो, समझना चाहिए कि उसके विकल्प को छुड़ाया जा रहा है; और जहाँ शुद्धनय के ग्रहण की बात कही हो वहाँ समझना चाहिए कि शुद्धनय के विषयभूत अर्थ की बात चल रही है। समयसार कलश १२२ से भी इस बात की पुष्टि होती है:—

''इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बंध एव हि॥१२२॥

यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके अत्याग से बंध नहीं होता और त्याग से बंध होता है।''

कविवर पंडित बनारसीदासजी ने इस कलश का हिंदी पद्यानुवाद इसप्रकार किया है:—

''यह निचोर या ग्रंथ कौ, यहै परम रस पोख।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख॥''

---

१. माइल्लधवल, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २६२
२. शुद्धनय निश्चयनय का ही एक भेद है, जिसकी चर्चा आगे नय के भेदों में की जाएगी।

व्यवहारनय का निषेध तो निश्चयनय करता ही है। साथ में स्वयं के पक्ष का भी निषेधकर आत्मा को पक्षातीत, विकल्पातीत, नयातीत कर देता है।

आचार्य देवसेन नयचक्र में निश्चयनय को पूज्यतम सिद्ध करते हुए लिखते हैं:—

''निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानंदं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रांतं करोति तमिति पूज्यतम:।

निश्चयनय एकत्व को प्राप्त कराके ज्ञानरूपी चैतन्य में स्थापित करता है। परमानंद को उत्पन्न कर वीतराग बनाता है। इतना काम करके वह स्वत: निवृत्त हो जाता है। इसप्रकार वह जीव को नयपक्ष से अतीत कर देता है। इसकारण वह पूज्यतम है।''

और भी देखिये:—

''यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्याव्यवहारी निवर्तते तथा निश्चयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते। यथा निश्चयनयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते तथा स्वपर्यवसितभावेनैक-विकल्पोऽति निवर्तते। एवं हि जीवस्य योऽसौ स्वपर्य-वसितस्वभाव स एव नय पक्षातीत:।

जिसप्रकार सम्यक्व्यवहार से मिथ्याव्यवहार की निवृत्ति होती है; उसीप्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की भी निवृत्ति हो जाती है। जिसप्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की निवृत्ति होती है; उसीप्रकार स्वपर्यवसितभाव से एकत्व का विकल्प[१] भी निवृत्त हो जाता है। इसप्रकार जीव का स्वपर्यवसित[२] स्वभाव ही नयपक्षातीत है।''[३]

इसप्रकार हम देखते हैं कि जबतक नयविकल्प चलता रहता है, तब तक आत्मा परोक्ष ही रहता है, वह प्रत्यक्षानुभूति का विषय नहीं बन पाता। तथा जबतक वह प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं आ जाता तबतक उसके पक्षों को जानने के विकल्प उठाना स्वाभाविक ही है। उन विकल्पों के समाधान हेतु ही नयों की प्रवृत्ति होती है। कहा भी है:—

''एवमात्मा यावद्व्यवहारनिश्चयाभ्यां तत्वमनुभवति तावत्परोक्षानुभूति:। प्रत्यक्षानुभूतिर्नयपक्षातीता।[४]

---

१. 'निश्चयनय से आत्मा एक है, शुद्ध है'-ऐसा निश्चयनय संबंधी विकल्प

२. अनुभवगम्य

३. जैनेन्द्र सिद्धांतकोष, पृष्ठ ५६५

४. देवसेनाचार्य, श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ ३२

इसप्रकार आत्मा जबतक व्यवहार और निश्चय के द्वारा तत्त्व का अनुभव करता है, तबतक परोक्षानुभूति होती है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत होती है।''

''यथा किश्चिद्देवदत्तोऽपूर्वान् परोक्षानश्वान् राज्ञे निवेदयति। स यथा राजा ह्रस्वदीर्घ-लोहितादिधर्मावबोधाय पौनः पुन्याद्विकल्प्य पृच्छति। तथा परोक्षार्थ श्रुतनिवेदिताऽनंतधर्मावबोधनाय विकल्पा भवंति।[१]

जैसे—कोई देवदत्त नामक पुरुष राजा से अपूर्व-परोक्ष घोड़ों के बारे में चर्चा करता है। तब वह राजा बड़ी ही उत्सुकता से, उससे वे कैसे हैं-छोटे हैं या बड़े हैं, उनका रंग कैसा है-लाल है क्या, आदि उनके अनेक धर्मों-गुणों के बारे में बार-बार विकल्प उठाकर पूछता है; उसीप्रकार परोक्ष पदार्थ की चर्चा होने पर उसमें रहनेवाले अनंत धर्मों के बारे में विकल्प होते हैं, विकल्पों का होना स्वाभाविक ही है।''

किंतु जब वे घोड़े जिनकी चर्चा राजा ने देवदत्त से सुनी थी, राजा के सामने उपस्थित हो जावें तब सब-कुछ प्रत्यक्ष स्पष्ट हो जाने से विकल्पों का शमन सहज हो जाता है; उसीप्रकार जब आत्मा अनुभव में प्रत्यक्ष आ जाता है, तब नयरूप विकल्पों का शमन हो जाना स्वाभाविक है, सहजसिद्ध है। यही कारण है कि प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत-विकल्पातीत होती है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत है और सुखी होने के लिये एक प्रत्यक्षानुभूति ही उपादेय है, विकल्पजाल में उलझने से कोई लाभ नहीं है, तो फिर हमें निश्चयनय और व्यवहारनय के विकल्पजाल में क्यों उलझाते हो ?

यदि हम नयों के स्वरूप को जाने बिना ही नयपक्षापतीत हो जाते हैं तो फिर नयों के विस्तार में जाने की क्या आवश्यकता है ? भगवान महावीर के जीव ने शेर की पर्याय में और पार्श्वनाथ भगवान ने हाथी की पर्याय में आत्मानुभूति प्राप्त की थी, प्रत्यक्षानुभूति की थी; तो क्या वे उस समय नयों के इस विस्तार को जानते थे ? नहीं, तो फिर आप हमें ही क्यों इस विस्तार में उलझाना चाहते हैं ? क्यों न हम भी शेर और हाथी के समान नयपक्षातीत हो जावें, विकल्पातीत हो जावें, आत्मानुभूति प्राप्त कर लें ? या फिर 'तुषमासंघोषन्तो' वाले शिवभूति मुनिराज के समान अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लें।

---

१. देवसेनाचार्य, श्रुतभवनदीपक, नयचक्र, पृष्ठ ३६

कर लीजिए न कौन रोकता है? यदि आप कर सकते हैं तो अवश्य कर लीजिए। उपादेय तो प्रत्यक्षानुभूति, निर्विकल्प-अनुभूति ही है, नय-विकल्प नहीं। नयों का स्वरूप तो प्रत्यक्षानुभूति में सहायक जानकर ही बताया जा रहा है, नयों के विकल्पों में ही उलझे रहने के लिये नहीं। नयचक्र में भी ऐसा ही कहा है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है :—

''यद्यपि आत्मा स्वभाव से नयपक्षातीत है, तथापि वह आत्मा नयज्ञान के बिना पर्याय में नयपक्षातीत होने में समर्थ नहीं है। अर्थात् विकल्पात्मक नयज्ञान बिना निर्विकल्प (नयपक्षातीत) आत्मानुभूति संभव नहीं है, क्योंकि अनादिकालीन कर्मवश से यह असत्-कल्पनाओं में उलझा हुआ है। अतः सत्-कल्पनारूप अर्थात् सम्यक्-विकल्पात्मक नयों का स्वरूप कहते हैं।''[१]

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यक्दर्शन कहा है तथा तत्त्वार्थों के अधिगम का उपाय प्रमाण और नयों को निरूपित किया है।[२]

नयदृष्टि से विहीन व्यक्ति को वस्तुस्वभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वभाव की उपलब्धि बिना सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभव कैसे हो सकता है?— नयचक्रकार माइल्लधवल की इस उक्ति का उल्लेख भी आरंभ में किया ही जा चुका है।

फिर भी आप नयों और उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को समझे बिना ही आत्मानुभूति प्राप्ति करने का आग्रह रखते हैं तो भले ही रखें।

हाँ, यह बात अवश्य है कि आप नयों के विस्तार में न जाना चाहें तो भले ही न जावें, पर उनका सामान्य और सम्यक्ज्ञान तो करना ही होगा।

आप शेर और हाथी की बात करते हैं? सो भाई शेर और हाथी तो सात तत्त्वों, छह द्रव्यों, नव पदार्थों, पाँच भावों, चार अभावों, द्रव्य-गुण-पर्याय आदि के भी नामादिक तक नहीं जानते थे; पर आपने क्यों सीखे? इनके नामादिक बिना जाने जैसे उन्होंने आत्मानुभव किया था, वैसे आप भी कर लेते। जैसे आपने सप्ततत्त्वादिक का ज्ञान किया वैसे प्रमाण नयादिक का भी करना चाहिए। उनके समान ही ये भी उपयोगी हैं।

शेर और हाथी की पर्याय में उन्हें सप्ततत्त्वादिक के नामादिक का ज्ञान नहीं होने पर भी

---

१. देवसेनाचार्य, श्रुतभवनदीपक, नयचक्र, पृष्ठ २९

२. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २ एवं ६

उनका भाव-भासन था; उसीप्रकार उन्हें नयादिक के भी नामादिक का ज्ञान न होने पर भी उनके विषय का भाव-भासन था, अन्यथा आत्मानुभूति संभव नहीं थी।

तत्त्वार्थों का भाव-भासन हो—इस प्रयोजन से जिसप्रकार आप उनके विस्तार में, उनकी गहराई में जाते हैं; उसीप्रकार नयों और उनके विषयभूत अर्थ का सही भाव-भासन हो—इसके लिए यदि समय हो तो बुद्धि के अनुसार इनकी भी गहराई में, इनके भी विस्तार में जाना अनुचित नहीं है।

यदि आप शिवभूति मुनिराज के समान चरम लक्ष्य को पा सकते हैं, तो अवश्य पा लें। पर पा नहीं पा रहे हैं, इसलिए तो यह सब समझाया जा रहा है। विस्तार में उलझाने के लिये विस्तार से नहीं समझाया जा सकता है, अपितु सुलझाने के लिये ही यह सब प्रयत्न है। और यह यत्न मात्र हमारा नहीं, जिनवाणी में भी किया गया है। वस्तुस्वभाव के प्रकाशन के लिये ही नयचक्र का प्रयोग किया गया है, उलझाने के लिये नहीं। इसी बात को लक्ष्य में रखकर माइल्लधवल ने ग्रंथ का नाम ही 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' रखा है।

भाई, राजमार्ग तो यही है कि हम निश्चय-व्यवहारनय का स्वरूप समझकर व्यवहारनय और उसके विषय तथा निश्चयनय के भी विकल्प को तोड़कर निश्चयनय की विषयभूत वस्तु का आश्रय लेकर नयपक्षातीत, विकल्पातीत आत्मानुभूति को प्राप्त करें। इस प्रयोजन से ही यह सब कथन किया गया है।

इसप्रकार यहाँ निश्चय और व्यवहार का स्वरूप, उनमें परस्पर संबंध, हेयोपादेय व्यवस्था, उनकी भूतार्थ-अभूतार्थता एवं नयपक्षातीत अवस्था की सामान्य चर्चा की। अब उनके भेद-प्रभेदों का कथन प्रसंग-प्राप्त है। *[क्रमशः]*

वे जीव कैसे हो सकते हैं ?

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के सर्वोत्तम ग्रंथराज 'समयसार' की चँवालीसवीं गाथा पर हुए पूज्यश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है:—

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति॥४४॥

केवली भगवान के द्वारा पूर्वकथित अध्यवसानादि सभी भावों को पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए कहा गया है; वे जीव कैसे कहे जा सकते हैं ?

जीव-अजीव अधिकार के प्रारंभ में ही ३९ से ४३वीं गाथा पर्यंत आठ प्रकार से पर को आत्मा कहनेवालों का कथन किया। तथा टीका के अंत में आचार्यदेव ने यह भी कहा कि इस तरह अनेक प्रकार के दुर्बुद्धिजीव पर को आत्मा कहते हैं, परंतु वे परमार्थवादी नहीं हैं। अब यहाँ ४४वीं गाथा की उत्थानिका में आचार्यदेव प्रश्न करते हैं कि वे सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं; उसके उत्तरस्वरूप यह गाथा कही गई है।

ये समस्त अध्यवसानादि भाव विश्व के साक्षात् देखनेवाले भगवान अरहंत के द्वारा पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहे गये हैं और वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिये समर्थ नहीं हैं, क्योंकि चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य चैतन्य से शून्य पुद्गलद्रव्य से भिन्न कहा गया है। अत: जो इन अध्यवसानादि भावों को जीव का कहते हैं, वे परमार्थवादी नहीं हैं—क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है।

सर्वज्ञ वीतरागदेव ने आत्मा में जितना भी विकार-परिणाम होता है, उसे पुद्गलमय कहा है। यद्यपि रागादिभाव-अध्यवसानादि के भाव आत्मा की पर्याय में होते हैं, पुद्गल की पर्याय में नहीं; तथापि उसे यहाँ गौण करके पुद्गल का परिणाम कहा गया है। क्योंकि अध्यवसानादि भाव पुद्गलकर्म के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं, आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न नहीं होते हैं। पूरण-गलन स्वभाववाले होने से भी उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है।

यद्यपि विकारीभाव कर्म के कारण से नहीं होता, कर्म जबरदस्ती रागादिभाव कराता नहीं है, वह स्वयं अपनी भूल के कारण होता है; तथापि उसे गौण करके यथार्थ स्वरूप की प्रतीति कराने के लिये स्वभाव में रागादि भाव नहीं हैं—ऐसा कहा गया है।

शास्त्र में विभिन्न प्रकार से कथन की पद्धति है, उसका यथार्थ अभिप्राय समझना चाहिये। यदि कथन की पद्धति यथार्थरूप से न जाने तो वस्तु की यथार्थ प्रतीति नहीं हो सकती। शास्त्र में कर्म से विकार होता है—ऐसा कथन आता है या रागादिभाव पुद्गलमय हैं—ऐसा कथन आता है, तो वहाँ जैसा लिखा है, उसके अनुसार अर्थ करना योग्य नहीं है, उसका अभिप्राय समझना योग्य है। अर्थात् त्रिकालस्वभाव की दृष्टि कराने की अपेक्षा से विकार को पुद्गल का कहा गया है।

जो विकार को कर्म के कारण मानता है, वह तो दो द्रव्यों का एकत्व करता है। गोम्मटसार में भी कर्म के कारण विकार होना कहा है, वहाँ निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कहा है। तथा यहाँ भी विकार को पुद्गल का कहा है तो यहाँ पर मुख्यरूप से स्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है। अत: प्रयोजन यथार्थ समझना चाहिये। वास्तव में आत्मा स्वयं विकार करता है तो होता है और स्वयं की पर्याय में होता है। इसलिये शास्त्र में जो दोनों कथन आते हैं, उनको यथार्थ समझना चाहिये।

आचार्य कहते हैं कि जो यह विकारी भावों को पुद्गलपरिणाममय कहा है, वह मैंने नहीं कहा है, वह तो समस्त विश्व को साक्षात् देखनेवाले अरहंत भगवान ने कहा है। यह कहकर आचार्यदेव ने अपनी निर्मानता प्रगट की है कि जो सर्वज्ञदेव ने कहा है वही मैं कहता हूँ। आचार्य कहते हैं कि हमारी छद्मस्थ दशा है, केवलज्ञान नहीं है; स्वरूप का अनुभव है, तथापि पूर्ण वीतरागता नहीं है।

सर्वज्ञता का कथन करके वे यह भी कहना चाहते हैं कि इससे विरुद्ध यदि कोई कहता है तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता। अत: उसका कहना सम्यक् नहीं है।

विकार पुद्गलमय होने के कारण चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने में समर्थ नहीं है। आत्मा के साथ एकमेक होने की उसकी ताकत नहीं है। चैतन्यस्वभाव तो विकारीभाव से भिन्न ही है।

अनादिकाल से अज्ञानी जीव स्वभाव से अपरिचित होने के कारण राग-द्वेषरूप मलिन

परिणाम को ही जीव मानते हैं, परंतु जीवद्रव्य तो एक ज्ञायक शुद्ध है। राग-द्वेषरूप विकारीभाव चैतन्यस्वभाव से बिल्कुल खाली है और जीवद्रव्य चैतन्यस्वभाव से एकदम भरपूर है। इसप्रकार जो चैतन्यस्वभाव से भरपूर जीवद्रव्य को नहीं जानते हैं तथा राग-द्वेष आदि के भावों को ही जीव मानते हैं, वे परमार्थवादी नहीं हैं-क्योंकि आगम, युक्ति, तथा स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है।

'वे जीव नहीं हैं'—यह आगम का वचन है। अर्थात् आचार्य यहाँ आगम की कसौटी बताते हैं कि जहाँ यह कहा हो कि आत्मा एक शुद्ध ज्ञायकमूर्ति है—वही आगम है।

आचार्य कहते हैं कि जहाँ मात्र व्यवहार का कथन हो वह आगम नहीं है। राग से अथवा व्यवहार से धर्म बताया हो वह आगम नहीं है। दिगम्बर शास्त्रों में तो निश्चय-व्यवहार दोनों का कथन है, इसलिये वही सत्य है। आत्मा की पर्याय में राग-द्वेष-मोह आदि भाव हैं, वही संसार है, परंतु वह संसार स्वभाव में नहीं है; इसलिये आगम कहता है कि वे जीव नहीं हैं। व्यवहार-रत्नत्रय का भाव जीवद्रव्य नहीं है, वह पुद्गलमय है, क्योंकि पुद्गल के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला भाव है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप का निर्णय किये बिना संसार अवस्था का अभाव तथा मोक्ष अवस्था का उत्पाद नहीं हो सकता। जो ऐसा जानता है, वह रागादि विकारी भावों को मात्र जानता है-व्यवहार को मात्र जानता है अर्थात् व्यवहार मात्र जाननेयोग्य प्रयोजनवान है—ऐसा समझना योग्य है।

अब आचार्य आगम का वचन कहकर स्वानुभवगर्भित युक्ति से पूर्व गाथाओं में कही गयी आठ मान्यताओं का खंडन करते हैं। यह मात्र युक्ति नहीं है, वह अनुभव के द्वारा प्रमाणित हुई युक्ति है।

(१) स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेषरूप मलिन अध्यवसान जीव नहीं है, क्योंकि कालिमा से भिन्न सुवर्ण की भाँति अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे चैतन्यभाव को प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं।

पहले अज्ञानी की दलील थी कि स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष आदि मलिन अध्यवसान ही जीव हैं, क्योंकि जैसे कालेपन से भिन्न कोई कोयला दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न जीव दिखाई नहीं देता। आचार्य कहते हैं कि विकार स्वयमेव उत्पन्न होता है तथापि वह परिणाम आत्मा से उत्पन्न होनेवाला नहीं है क्योंकि आत्मसत्ता में उसका नास्ति

भाव है। चैतन्यद्रव्य के आश्रय से मलिन परिणाम नहीं होता। जिसप्रकार सोने में कालिमा दिखाई देती है, वह सोने का स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार आत्मा में अध्यवसानादि भाव दिखाई देते हैं, परंतु वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं।

जिसप्रकार कालिमा से भिन्न स्वर्ण अज्ञानियों को भासित नहीं होता है तथापि कालिमा तथा स्वर्ण का भेद जाननेवाले कालिमा से भिन्न स्वर्ण प्राप्त कर लेते हैं; उसीप्रकार राग-द्वेषमय अध्यवसानादि भाव से भिन्न जीवद्रव्य अज्ञानियों को भासित नहीं होता तथापि अध्यवसानादि भाव तथा जीवद्रव्य का भेद जाननेवाले अध्यवसानादि भाव से भिन्न जीवद्रव्य उपलब्ध कर लेते हैं और वे चैतन्यभाव को प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं।

यद्यपि स्वर्ण का स्वभाव पीलापन है तथापि कालिमा के साथ संयुक्त होने से अज्ञानी स्वर्ण को ही कालिमावाला मान लेता है। जब अग्नि में संयुक्त स्वर्ण को तपाया जाता है तब कालिमा बाहर निकलती दिखाई पड़ती है अर्थात् यदि कालिमा स्वर्ण की होती तो वह स्वर्ण को कभी न छोड़ती। इससे यह सिद्ध होता है कि कालिमा स्वर्ण की नहीं है; पर की है; कोयले की है। उसीप्रकार जीवद्रव्य का स्वभाव चैतन्यमय है तथापि अध्यवसानादि भावों के साथ संयुक्त होने से अज्ञानी चैतन्यस्वभावी जीवद्रव्य को ही अध्यवसानादि भाववाला मान लेता है। जब ज्ञानीजन अपनी ध्यानरूपी अग्नि में चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्य का आश्रय लेते हैं तो अध्यवसानादि भाव भागते दिखाई देते हैं अर्थात् यदि अध्यवसानादि भाव जीवद्रव्य के स्वरूप होते तो उसे छोड़कर कभी न जाते। इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यवसानादि भाव जीव के नहीं हैं; पर के हैं, पुद्गल के हैं।—इसप्रकार आचार्य ने स्वानुभवगर्भित युक्ति दी है।

आत्मा ने स्वयं की सत्ता को भूलकर स्वयं पामरता-दरिद्रता उत्पन्न की है। यदि वह पामरता-दरिद्रता को भूलकर स्वयं की प्रभुता का आश्रय करे तो दरिद्रता का नाश हो जाये। इसके अलावा दरिद्रता दूर करने का अन्य मार्ग नहीं है।

कितने ही लोग विपरीत दृष्टि के कारण कहते हैं कि हम शरीर से भिन्न तथा राग-द्वेष आदि विकार से भिन्न आत्मा को कैसे देख सकते हैं; उसे तो केवली जान सकते हैं। परंतु आचार्य कहते हैं कि भेदज्ञानीजन शरीर से भिन्न तथा रागादि भाव से भिन्न आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। जब केवलज्ञान होता है जब अनुभव करते हैं—ऐसा नहीं है। जिन्हें चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, भेदज्ञान की उपलब्धि हुई है, वे प्रत्यक्ष से रागादि से भिन्न तथा शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव करते हैं।

प्रथम बोल में रागादिक विकारी भावों से भेदविज्ञान कराया है। अब द्वितीय बोल में जड़कर्म से भेदविज्ञान कराते हैं।

(२) अनादि जिसका पूर्ण अवयव है और अनंत जिसका भविष्य का अवयव है-ऐसी एक संसरण लक्षणवाली क्रिया के रूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

जगत में कुछ लोग यह भी मानते हैं कि कर्म के कारण अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण किया है और अनंतकाल तक परिभ्रमण करेंगे। वे अपने कर्मरहित सवभाव को भूलकर कर्म ही को जीव मानते हैं। परंतु आचार्य कहते हैं कि कर्म कभी भी जीव नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानियों को जीव का अनुभव करने पर चैतन्यस्वभावी जीवद्रव्य उपलब्ध होता है। वास्तव में अज्ञानी जीव अपनी उल्टी मान्यता के कारण ही संसार में परिभ्रमण कर रहा है, कर्म आदि के कारण नहीं।

कर्म संसार में भ्रमण नहीं कराते, बल्कि जब जीव स्वयं अपनी भूल के कारण भ्रमण करता है, तब कर्म निमित्त मात्र होता है। यदि कर्म संसार में भ्रमण करावें तो कर्म ही के द्वारा मोक्ष होगा, परंतु कर्म मोक्ष नहीं कराते। अतः कर्म आत्मा से पृथक् वस्तु है, उसके कारण संसार या मोक्ष कुछ भी नहीं है।

शंका - पुण्य के कारण बाह्य में अनुकूलता तो मिलती है न ?

समाधान - पुण्य के कारण बाह्य में अनुकूलता नहीं मिलती; परंतु जब यह जीव पुण्य-भाव करता है, तब उसके निमित्त से शुभकर्म का बंध होता है, उसके उदय आने पर बाह्य अनुकूल संयोग प्राप्त होता है। अतः पुण्यभाव के कारण अनुकूलता नहीं है, परंतु बाह्य अनुकूलता में पुण्य-भाव निमित्त मात्र है।

यद्यपि पुण्य-भाव के निमित्त से बाह्य-अनुकूलता मिलती है; तथापि वह भी कहाँ सदाकाल ठहरनेवाली है। वह भी तो क्षणिक है। क्षणभर में राजा से रंक बन जाता है, धनवान से निर्धन बन जाता है। पुण्यभाव भी क्षणिक ही है। क्षणिक शुभभाव करने से इष्ट-सामग्री मिल जाती है, क्षणभर में अशुभभाव होने से नरकादि योनियों में जाना पड़ता है। अतः पुण्य-भाव का भी विश्वास नहीं किया जा सकता।

यह जीव पुण्य-भाव के कारण जो इष्ट-सामग्री मिलती है, उसमें भी विषय-भोगों में रच-पचकर पाप-भाव करता है और नरक-निगोदादि, कीड़े-मकोड़े आदि योनियों में चला जाता है। अत: जीवों को पुण्य की मिठास भी अवश्य छोड़ देनी चाहिए तथा अपना हित करने के लिये चैतन्यस्वभावी जीवतत्त्व का आश्रय लेना चाहिये।

शंका - कर्म तो अनादिकाल से चले आ रहे हैं, इसलिये वे कैसे छूट सकते हैं ? जैसे-चने में से चना उत्पन्न होता रहता है; उसीप्रकार अनादिकाल से कर्म की परंपरा चली आ रही है, अत: वह कैसे टूट सकती है और हम कर्म से मुक्त कैसे हो सकते हैं ?

समाधान - अज्ञानदशा में बाँधे गये कर्म ज्ञान द्वारा टूट सकते हैं। कोई भी कर्म अनादि नहीं होता है, किंतु अनादि का अर्थ है कि कर्म-प्रवाह अनादि है, कर्म की परंपरा अनादिकाल से है।

जिसप्रकार एक रुई की पौनी से दूसरी रुई की पौनी जुड़ जाती है तथापि वह पृथक्-पृथक् ही होती है; उसीप्रकार कर्म की परंपरा होने पर एक कर्म दूसरे कर्म से जुड़ जाता है तथापि पूर्व के कर्म दूर हो जाते हैं, नये कर्म बंध जाते हैं। अत: कर्म अनादि नहीं हैं, उनकी परंपरा अनादि है।

आठ कर्मों में अधिक से अधिक स्थिति वाला दर्शनमोहनीय कर्म है, उसकी भी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। अभव्य जीव के पास भी इससे अधिक स्थितिवाले कर्म नहीं हैं। कोई पुरुष पुरुषार्थ करके भी इससे अधिक स्थितिवाला कर्म नहीं बाँध सकता।

वास्तव में अनंत काल की स्थिति तो मोक्षपर्याय की है। कर्मबंध की अवस्था तीन लोक और तीन काल में भी अनंत काल की नहीं है। कर्मबंध का अभाव करने का स्वभाव प्रत्येक आत्मा का है। जो कर्मबंध से रहित शुद्धस्वभाव का अनुभव करते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि होते हैं तथा वे ही अनंत काल की स्थितिवाली मोक्ष अवस्था प्रगट करते हैं।

कुछ अज्ञानीजन कहते हैं कि यदि कर्म मार्ग दें तो हमारी मुक्ति हो सकती है; परंतु क्या हम इतने पराधीन हैं कि हमें अपनी मुक्ति के लिये कर्म की राह जोहना (देखना) पड़े। जो ऐसा मानते हैं, वे कभी कर्म से मुक्त नहीं हो सकते।

कुछ लोग कहते हैं कि कर्म जीव को हैरान करते हैं, वे जैसा करें वैसा होता है, अपने हाथ में कुछ भी नहीं है, एक पत्ता भी बिना कर्म की आज्ञा के हिल नहीं सकता; परंतु भाई ! जरा

विचार तो करो कि कर्म कभी हैरान कर भी सकते हैं, उनमें किंचित् भी ताकत है कि वे हैरान करें! वे बेचारे तो जड़-धूल हैं। उन्हें तो न अपनी खबर है न हमारी खबर है। लगता है—कर्म का बहाना निकालनेवाले अज्ञानी को कर्म से मुक्त नहीं होना है और शायद इसलिये ही कहता है कि कर्म हैरान करते हैं; वे मार्ग दें तो मोक्ष प्राप्त हो।

जिसप्रकार व्यवहार में 'घी का घड़ा' कहा जाता है परंतु वास्तव में घी का घड़ा नहीं होता है, मात्र घी के संयोग को देखकर मिट्टी के घड़े को भी घी का घड़ा कह दिया जाता है; उसीप्रकार व्यवहार में 'आत्मा के साथ कर्म लिप्त हैं' कहा जाता है परंतु वास्तव में कर्म आत्मा के नहीं होते हैं, मात्र कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध देखकर आत्मा को भी कर्म से लिप्त कहा जाता है। कर्म आत्मा नहीं हैं, आत्मा कर्म नहीं है। कर्म, कर्म में है, आत्मा में है। जो आत्मा को कर्म से लिप्त मानता है, उसे यथार्थ प्रतीति नहीं है।

कोई कहता है कि कर्म सत्ता में किस स्थिति और अनुभागवाले हैं, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता, अत: उनसे छूटने का पुरुषार्थ कितना किया जाये-यह कैसे जानें?

आचार्य कहते हैं कि तुझे इसका अनुमान करने की आवश्यकता नहीं। तूने विपरीत पुरुषार्थ द्वारा कर्म बाँधे हैं, अब सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा उनका निवारण किया जा सकता है। यदि उग्र पुरुषार्थ करे तो अल्प काल में मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। किसी कर्म में इतनी शक्ति नहीं कि पुरुषार्थ करनेवाले को पुरुषार्थ करने से रोक सके, अर्थात् पुरुषार्थ करनेवाले जीव को ऐसे कर्म का उदय ही नहीं आता, जिससे पुरुषार्थ में बाधा पहुँचे।

जिसप्रकार सूखे नारियल के भीतर गोला, छाल से बिल्कुल अलग रहता है तथा छाल से अलग करके गोले का स्वाद लेने पर आनंद की प्राप्ति होती है; उसीप्रकार इस शरीररूपी नारियल के भीतर चैतन्यस्वरूपी जीवतत्त्व गोले की भाँति कर्मरूपी छाल से बिल्कुल अलग विराजमान है और कर्मरूपी छाल से पृथक् करके चैतन्यगोले का आस्वाद लेने पर ज्ञानियों को परम आनंद की प्राप्ति होती है।

कर्म से भिन्न चैतन्यस्वभावरूप जीवद्रव्य धर्मात्माओं के प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। सम्यक्त्वी को अपने चैतन्यस्वभाव की स्वयं ही खबर होती है। इसमें उन्हें किंचित् भी शंका नहीं होती हैं।

इसप्रकार स्वानुभवगर्भित युक्ति से यह सिद्ध है कि अनादि से अनंत काल तक संसरण क्रिया के रूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है।

(३) तीसरे बोल में अज्ञानी ने कहा था कि तीव्र-मंद अनुभव से भेद होने पर भी दुरंत रागरस से भरे हुए अध्यवसानों की संतति ही जीव है, तो आचार्य कहते हैं कि उपरोक्त कथित अध्यवसानों की संतति भी जीव नहीं है। क्योंकि उस संतति से भिन्न चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है।

देव-शास्त्र-गुरु के प्रति राग को मंदराग कहते हैं और स्त्री, पुत्रादि के प्रति राग को तीव्रराग कहते हैं। इसीप्रकार दया, दान, भक्ति आदि का शुभराग परिणाम मंदराग है और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह तथा विषय-कषायादि का राग तीव्रराग है। अज्ञानी कहता है कि हमने जीव के साथ सदाकाल से इन तीव्र-मंदरागों की संतति ही देखी है। अत: इनके अलावा कुछ भी जीव को भासित नहीं होता है।

अज्ञानी की मान्यता है कि राग से कभी पृथक् भी नहीं हुआ जा सकता है, क्योंकि यह राग दुरंत है अर्थात् इसका कभी नाश नहीं होगा। अत: दुरंत रागरस से परिपूर्ण अध्यवसानों की संतति ही जीव है। यद्यपि अज्ञानी को तीव्र-मंद अनुभव में आनेवाली संतति सुहाती नहीं है, तथापि उसे दुरंत जानकर वह अध्यवसानों की संतति को ही जीव मान लेता है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि यद्यपि रागादि भाव दुरंत हैं, तथापि उससे पृथक् हुआ जा सकता है। क्योंकि रागादि भावों से पृथक् जीवतत्त्व भेदज्ञानियों के द्वारा अनुभूत है। एक के बाद एक प्रवाहरूप से रागरस से मेरा चैतन्यरस अलग ही है। यदि चैतन्यरस रागरस से अलग न हो तो कभी रागरस का अभाव भी नहीं होना चाहिए और रागरस से अलग चैतन्यरस का अनुभव भी नहीं होना चाहिए। परंतु रागरस से भिन्न चैतन्यरस का अनुभव ज्ञानीजन करते हैं। अत: चैतन्यरस का रस राग के रस से भिन्न ही है।

रागरस से आत्मा में आकुलता होती है, दु:ख होता है, सुख की उपलब्धि नहीं होती। अत: यदि रागरस को आत्मा का स्वभाव मानें तो उससे आकुलता नहीं होनी चाहिए, दु:ख नहीं होना चाहिए, सुख ही उत्पन्न होना चाहिए; परंतु रागरस से आत्मा को सुख की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए रागरस की संतति कभी भी जीव का स्वभाव नहीं बन सकती।

रागादि भावों से भिन्न चैतन्यस्वभाव का अवलंबन करने से सुख की उपलब्धि होती है,

दु:ख का नाश होता है। इससे सिद्ध होता है कि चैतन्यभाव आत्मा का सच्चा स्वरूप है, रागादि भाव नहीं।

रागादि भाव से भिन्न चैतन्यस्वभाव का आश्रय करने पर भविष्य में सुख की प्राप्ति होगी-ऐसा नहीं है। जैसे संसार में रुपया-पैसा आदि कमाने का पुरुषार्थ करे तो रुपया-पैसा आदि प्रत्यक्ष दिखाई देता है; उसीप्रकार धर्म भी उधार नहीं है। उसका पुरुषार्थ करने से भी तत्काल सुख की उपलब्धि होती है, क्योंकि आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है। रुपया-पैसा आदि तो परपदार्थ हैं, परंतु आत्मा तो स्वयं निज है; अत: उसका पुरुषार्थ करना सरल है और पर-पदार्थों का पुरुषार्थ करना असाध्य कार्य है। ज्ञानी जीव राग से भिन्न आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, अत: धर्म भी नकदस्वरूप है, उधारस्वरूप नहीं।

जो जीव राग से छुटकारा पाना चाहते हों, उन्हें राग से भिन्न चैतन्यस्वभावी आत्मा का आश्रय लेना चाहिए। उनका राग से छुटकारा, दु:ख से छुटकारा अवश्य होगा। [क्रमश:]

आदाननिक्षेपण एवं प्रतिष्ठापन समिति

परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम नियमसार की ६४वीं तथा ६५वीं गाथा एवं उसमें समागत श्लोकों पर हुए पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथाएँ इसप्रकार हैं—

पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा॥६४॥
पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स॥६५॥

पुस्तक, कमंडल आदि लेने-रखने संबंधी प्रयत्न-परिणाम वह आदाननिक्षेपण समिति है—ऐसा कहा है।

जिसे पर के उपरोध रहित (दूसरे से रोका न जाये ऐसे) गूढ़ और प्रासुक भूमिप्रदेश में मलादि का त्याग हो, उसे प्रतिष्ठापन समिति होती है।

मुनि के पास उपकरणरूप में मात्र शास्त्र, कमंडल और मोरपिच्छी—यह तीन ही होते हैं, इनसे अधिक नहीं होते। मुनि जब सातवीं भूमिका में अपने पुरुषार्थ की मंदता के कारण विशेष नहीं ठहर पाते और उससे गिरकर छठी भूमिका में आते हैं, तब उनके उपकरणों को सावधानतापूर्वक रखने-उठाने के विकल्प उठते हैं। उनके अंदर आत्मा का यथार्थ भान है, वे जानते हैं कि आत्मा शास्त्रादि जड़ पदार्थों को रख-उठा सकता नहीं; परंतु अभी अपूर्णता होने से इस भूमिका में ऐसे विकल्प उठते हैं। अंदरस्वभाव के भानपूर्वक वीतरागी रमणता विशेष वृद्धिंगत हुई है, फिर भी अपूर्णता है, इसलिए विकल्प भी उठता है, वह विकल्प पुण्य है—वह धर्म अथवा धर्म का कारण नहीं है, यह व्यवहारसमिति है।

अपवादसंयमवाले मुनि को अपहृतसंयमी कहते हैं। अंतरभानसहित रमणता तो प्रकटी है; किंतु पुरुषार्थ की निर्बलता से विकल्प उठता है, अतः सातवीं भूमिका से च्युत हो जाते हैं, तब विकल्पयुक्त होने के कारण उन मुनि को अपहृतसंयमी कहते हैं। अपवाद, व्यवहारनय,

एकदेशपरित्याग, हीनसंयम, सरागचारित्र, और शुभोपयोग—इन सबका एक ही अर्थ है। अंदरस्वभाव प्रकट हुआ है, वह निश्चय है और विकल्प-राग उठता है, वह व्यवहार है। श्रद्धा-ज्ञान का निश्चय तो चौथे गुणस्थान में ही प्रकट हो गया है, किंतु चारित्र अपेक्षा से निर्विकल्प स्वरूपरमणतारूप निश्चय सातवें गुणस्थान में होता है। शुभोपयोगी मुनि को—छठी भूमिका में वर्तते मुनि को संयम, ज्ञान तथा शौच के उपकरण—पीछी, शास्त्र और कमंडल रखते-उठाते समय विकल्प का प्रकार यहाँ बताया है।

सातवीं भूमिका में स्थिर हो गये हों, उन्हें तो वे उपकरण होते नहीं, अर्थात् उन संबंधी विकल्प उनको उठता नहीं—उपेक्षा वर्तती है; अतः उन्हें उपेक्षासंयमी कहा गया है।

उपेक्षासंयमवाले मुनि को उपेक्षासंयमी कहते हैं। उत्सर्ग, निश्चयनय, सर्वपरित्याग, उपेक्षासंयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग इन सबका एक अर्थ है। उपेक्षासंयमवाले मुनि अत्यंत निस्पृह होते हैं। वे मुनि चल रहे हों तब भी सातवीं भूमिका बार-बार आ जाती है। उससमय उनको विकल्प नहीं होता। शरीर की क्रिया शरीर के कारण चलनेरूप होती है। अभ्यंतर उपकरणभूत निजशुद्ध चैतन्यतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उन्हें उपादेय नहीं है—ऐसी दशा सातवें गुणस्थान में ठहरने पर होती है। छठे गुणस्थानवाले को भी सहज एक अखंड ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है, किंतु पर्याय में किंचित् विकल्प उठता है, जबकि सातवें में बिलकुल ठहर गये होते हैं।

आत्मा जानने-देखने के स्वभाववाला त्रिकाल पदार्थ है। पर के ग्रहण-त्याग की क्रिया से तथा राग से उसका स्वरूप भिन्न है—ऐसे स्वरूप का भान तो छठेवाले को है, परंतु निर्बलता के राग के कारण उपकरण संबंधी विकल्प उठता है। सातवें में जो ठहर गया है उसके कोई उपकरण है नहीं। छठेवाले को उपादेयबुद्धि तो सहजज्ञान की है, किंतु विकल्प उठता है इसलिए उसको परमागम—भगवान की ध्वनि में से निकला हुआ सार—षट्खंडागम, समयसार, प्रवचनसार आदि शास्त्र, जो पुनःपुनः पदार्थ के स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान होने में निमित्तभूत हैं—वे ज्ञान का उपकरण हैं। मलोत्सर्ग करने के बाद शौच का उपकरण कमंडल है। मुनिराज दिन में एकबार ही आहार करते हैं। आहार के लिये जावें तभी श्रावक प्रासुक-अचित्त-उष्णजल कमंडल में भर देता है, उस कमंडल का जल मात्र शौच के लिये होता है, तृषा आदि से प्राण जावें तो भी कमंडल का जल पी लेने का भाव मुनि को नहीं होता। संयम का

उपकरण मोरपीछी है। यह सभी मुनि को रखने पड़ते हैं न ? अरे ! रखे कौन ! जड़ की क्रिया मैं कर सकता हूँ—ऐसा मुनिराज मानते ही नहीं। राग उठता है वहाँ सहज ही जो होता है, उसका ज्ञान कराया है।

मुनि को इन तीन उपकरणों संबंधी विकल्प होता है, वह भी मात्र छठी भूमिका में ही, सातवीं में तो स्वरूप में स्थिर होने पर उनकी भी उपेक्षा हो जाती है।

यह पक्षपात की बात नहीं है, वस्तुस्वरूप ही—मुनिदशा का स्वरूप ही ऐसा है, यही सनातन वीतराग मार्ग है। महाविदेहक्षेत्र में भी यही अनादि सनातन मार्ग है। इसमें कोई इधर-उधर करे तो चल नहीं सकता। भगवान कुन्दकुन्ददेव ने भी ऐसा ही कहा है।

इन उपकरणों के ग्रहण-त्याग के समय उठनेवाली प्रयत्न-परिणामरूप विशुद्धि-शुभराग वही आदाननिक्षेपण समिति है—यह व्यवहार है। निश्चय से सहज परमतत्त्व के भानसहित अंतरस्थिरतारूप निरुपाधिक परिणति प्रकटी वही समिति है। यहाँ छठे की व्यवहारसमिति कही है। चौथेवाले को चौथे प्रमाण होती है; उसको जितना राग है, उसी प्रमाण में शुभाशुभ विकल्प होते हैं। वह भूमिका कमजोर है, अतः भरत आदि को युद्ध का भाव हुआ था। यहाँ छठे गुणस्थान के शुभराग का वर्णन है, सर्वथा राग का अभाव तो बारहवें गुणस्थान में जाकर होता है।

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां,
परमजिनमुनीनां संहतौ क्षांतिमैत्री।
त्वमपि कुरु मनःपंकेरुहे भव्य नित्यं,
भवसि हि परमश्रीकामिनीकांतकांतः ॥८७॥

छठे गुणस्थान की बात है। मुनि को उत्तम परम जिनमुनि कहा, क्योंकि वीतराग मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं यह बात होती नहीं, अन्य मतावलंबी तो अपनी कल्पना से बात करते हैं, वहाँ ऐसे वीतरागी मुनि का स्वरूप नहीं हो सकता। उत्तम और परम विशेषण कह कर यहाँ भावलिंग सूचित किया है। ऐसी समितियुक्त मुनि को विशेष धैर्य और परम सहनशीलता प्रकट हो जाती है। घोरताप अथवा अतिशील में हों तथापि मुनि अपने चैतन्य के अवलंबन में परमशांत-अव्याकुल दशा का ही अनुभवन करते हैं। उन्हें सर्व के प्रति मैत्रीभाव होता है। कोई निंदा करे तो बैर और प्रशंसा करे तो स्नेहबुद्धि नहीं होती—क्योंकि वे जानते हैं कि कोई किसी

को लाभ-हानि कर ही नहीं सकता—इसप्रकार अंतरंग शांति मुनि के होती है। अत: हे भव्य! तू भी उस समिति को मन-कमल में सदा धारण कर! उससे परम केवलज्ञानरूपी स्त्री का प्रियकांत होगा, तेरी पूर्णशुद्धपरिणतिरूपी स्त्री सदा तेरे साथ रहेगी और पुन: अवतार नहीं लेगा।

मुनियों के कायमलादि त्याग के स्थान की शुद्धि का कथन प्रतिष्ठापन समिति में है। आत्मा के भानसहित मुनिदशा में उठते हुए शुभविकल्प की यह बात है। यह व्यवहार समिति है।

छठी-सातवीं भूमिका में झूलते मुनि, जहाँ किसी के द्वारा रोक-टोक न हो, जो गुप्त हो और जहाँ त्रसादि जंतुओं का संचार न हो; ऐसे प्रासुक भूमिप्रदेश में मलादि का त्याग करते हैं, उनके प्रतिष्ठापन समिति होती है।

शुद्धनिश्चय से जीव को देह का अभाव होने से आहारग्रहणरूप परिणति नहीं है। वास्तव में आत्मा को शरीर नहीं है, इसलिये अन्न ग्रहण करूँ ऐसा विकल्प भी आत्मा में नहीं है। आहार लेने की—जड़ की क्रिया में सावधान तो रहें न?—ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं कि भाई! जड़ की क्रिया में आत्मा कर ही क्या सकता है कि उसमें सावधान रहे? आत्मा पर का कुछ भी नहीं कर सकता—यह बात सर्व प्रथम श्रद्धा में होना चाहिए। श्रद्धा-ज्ञान होने के बाद मुनिदशा में कैसा राग होता है, उसका यहाँ ज्ञान कराया है।

आहार ग्रहण करूँ—ऐसा राग ही मेरे स्वरूप में नहीं है, इसप्रकार का भान प्रथम से ही मुनि को होता है। यह समितियाँ मुनि को सर्वांश और आत्मज्ञानी श्रावक को अल्पांश में होती हैं—ऐसा समझना चाहिए।

मुनि को स्वभावदृष्टि प्रकट हुई है, स्वरूपरमणता विशेष हो गयी है, अल्पराग है, अत: विकल्प उठता है—काय आदि के मलत्याग की वृत्ति उठती है। जंतुरहित और पर के उपरोधरहित स्थान में मुनि को मल के त्याग का विकल्प होता है—वह व्यवहारप्रतिष्ठापन समिति है।

मुनि छद्मस्थ हैं इसलिये उन्हें आहार और निहार होता है, यहाँ सामान्य मुनि की बात समझना। छद्मस्थ तीर्थंकर भगवान को यद्यपि आहार होता है तथापि निहार जन्म से ही नहीं होता। केवलज्ञान होने के बाद तो सामान्य केवली हों अथवा तीर्थंकर भगवान हों—किन्हीं को भी आहार और निहार दोनों ही नहीं होते।

मुनि को किंचित् राग है, अत: शरीरसंबंधी विकल्प उठता है और आहारग्रहण होता है तथा मलत्याग भी होता है। मलत्याग की बात जिनको लागू पड़े वहाँ लेना, सबके लिये नहीं। महावीर आदि तीर्थंकर मुनियों को जन्म से ही निहार नहीं था। कितने ही महाऋद्धिधारी मुनिराज होते हैं, उन्हें ऋद्धि के निमित्त से संपूर्ण आहार रक्तादिरूप में परिणम जाता है और मल-मूत्र नहीं बनता, फलस्वरूप निहार भी नहीं होता। अत: यह कथन एकांत सभी मुनियों के लिये मत समझना, जिस पर लागू हो उसी पर समझना।

जंतुरहित तथा पर की रोक-टोक से रहित स्थान में शरीरधर्म—मलत्याग की क्रिया करके फिर परमसंयमी मुनि उस स्थान से उत्तर दिशा में कुछ कदम चलकर उत्तरमुख खड़े रहकर, मन-वचन-काय की क्रियाओं का लक्ष्य छोड़कर, प्रतिष्ठापनसमिति के शुभविकल्प को भी छोड़कर, निजात्मा को अव्यग्र होकर—एकाग्र होकर ध्याते हैं। प्रतिष्ठापनसमिति का विकल्प व्यवहारसमिति है और उसे तोड़कर स्वरूप में लीन होना निश्चयसमिति है।

मुनि तीनों काल नग्न दिगम्बर ही होते हैं। जिसको आत्मा का यथार्थ भान होकर वीतरागदशा प्रकटी हो, जिसको आसक्ति घटकर विशेष स्वरूपस्थिरता हुई हो, वह वीतरागमार्ग में चलनेवाला मुनि है—ऐसा मुनिपना वह वीतरागमार्ग है। इसके अलावा वस्त्र-पात्रसहित मुनिपना माननेवाले तथा पुण्यादि में धर्म माननेवाले तो वीतरागमार्ग से विरोधी मार्गवाले हैं, संसार में परिभ्रमण के कारण हैं, उनके द्वारा धर्म या आत्मशांति प्रकट होनेवाली नहीं।

जिनके शरीर की दशा नग्न है, अंतर-आत्मभान सहित छठे गुणस्थान की वीतरागदशा प्रकटी है, उनको मलत्याग का विकल्प उठता है, और मलत्याग के बाद उत्तर दिशा में कुछ कदम चलकर, उत्तरमुख खड़े रहकर संसार के कारणभूत पुण्य-पाप का लक्ष्य छोड़कर चैतन्य आनंदकंद स्वरूप में ठहर जाते हैं—इसका नाम निश्चयसमिति है। संसार के निमित्तभूत मन का—विचार के निमित्त का लक्ष्य छोड़कर मात्र चैतन्यस्वरूप का अनुभव रह जाये, वह कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग में संसार की कारणभूत काया की क्रिया के ऊपर लक्ष्य नहीं, वचन बोलने का लक्ष्य नहीं, तथा दया-दान, पुण्य-पाप के विकल्परूप मन के परिणाम जो संसार के कारण हैं—उनका लक्ष्य नहीं होता। जो मन-वाणी-देह के ऊपर का लक्ष्य छोड़कर, आत्मा में अव्यग्रपने एकाग्र होकर निजानंद चैतन्यस्वभाव को ध्याता है, उस मुनि को कायोत्सर्ग है।

इसप्रकार आत्मा का ज्ञान करके मन-वचन-काय का लक्ष्य छोड़कर, मलत्यागादि के विकल्प त्यागकर भगवान चैतन्य में—वीतरागी स्वभाव में ठहर जाना प्रतिष्ठापनसमिति है।

अथवा पुनः पुनः शरीर का अशुचिपना सर्व तरफ से भाना प्रतिष्ठापनसमिति कही जाती है। यह शरीर विष्टा का साँचा है, दाल-भात-रोटी की विष्टा अन्य किसी सांचे से नहीं बनती। यह शरीर ही ऐसा है कि उसमें महादुर्गंधमय विष्टा आदि होते हैं, वे बाह्य-अभ्यंतर अशुचिमय ही हैं—इस भाँति शरीर का अशुचिपना विचारना-भाना वह मुनि की वास्तव में प्रतिष्ठापनसमिति है। यह समिति निर्ग्रंथ आत्मज्ञानी भावलिंगी मुनि के ही होती है, अन्य स्वच्छंद वृत्तिवाले यतिनामधारियों के कोई समिति नहीं होती। वस्त्र-पात्र सहित मुनिपना माने वह स्वच्छंदी मिथ्यादृष्टि है-अथवा आत्मभानरहित मात्र नग्न यतिनामधारी हो उसके भी यह समिति नहीं होती।

भगवान पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि ऐसी दशा जिसके प्रकट हुई है, उसी के यथार्थ मुनिपना होता है, अन्य किसी के मुनिपना भगवान ने स्वीकार नहीं किया। आजकल तो बहुत फेरफार हो गया है, वह वस्तु का स्वरूप नहीं है।

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं,
जिनमतकुशलानां स्वात्मचिंतापराणाम्।
मधुसखनिशितास्त्रव्रातसंभिन्नचेतः-
सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात्॥८८॥

कैसे मुनि को यह पंचसमिति होती हैं ? जो मुनि जिनमत में कुशल हैं अर्थात् वीतराग भगवान कथित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा देव-गुरु-शास्त्र एवं उपादान-निमित्त आदि में जो कुशल हैं, तथा वीतराग के शास्त्र किसे कहें और किसे नहीं—इन सबमें निपुण हैं, तथा जो स्वात्मचिंतन में परायण हैं, स्वानुभव में विशेष लीन हैं; ऐसे मुनि को यह समिति होती है। उन मुनिराज की यह समिति मुक्ति-साम्राज्य का मूल है।

साधु नाम रखाकर जिसका हृदय स्त्री की आँख के कटाक्ष से भिद गया है, ऐसे मिथ्यादृष्टि नामधारी साधु के यह समिति नहीं होती। कामदेव के तीक्ष्ण अस्त्रसमूह से भिदे हुए हृदयवाले मुनियों को यह समिति गोचर ही नहीं होती। वीतरागी आत्मध्यान में जो मुनिराज मस्त हैं-लीन हैं, उन्हीं को यह समिति होती है।

जिन्हें सुंदर स्वादिष्ट भोजन की गृद्धि है, स्त्री के प्रेम में गृद्धि है, और 'हम स्त्रियों को धर्म का उपदेश देते हैं'—इसप्रकार उपदेश के बहाने एकांत में विषय की वासना का पोषण करते हैं, जिनके हृदय में विषय-वासना अंकुरित है, काम के वेग से जिनका हृदय-स्थल क्षत-विक्षत हो गया है और जो स्त्रियों से परिचय करके कुकर्म साधन करते हैं—उन मुनि को यह समिति गम्य नहीं है। समिति किसे कहते हैं, इसका भान उन्हें नहीं होता। यह नग्न मुनि की बात है, दूसरे तो मुनि ही नहीं। नग्न होने पर भी विषय का प्रेम जिनको वर्तता है, उनको इस वीतरागी समिति की—अन्तरपरमशांतदशा की खबर नहीं पड़ती।

पद्मप्रभमलधारिदेव आत्ममस्त निर्ग्रंथ महाब्रह्मचारी मुनि थे। जिसका हृदय विषय-वासना से मलिन है, उस मुनि को इस समिति का भान नहीं होता, इत्यादि कथन द्वारा अपने ब्रह्मचर्य का अतिशय वीर्य सूचित करते हैं। उन्होंने बेधड़क होकर, संकोच रहित होकर दीक्षा, मुक्ति आदि आत्मपरिणति को स्त्री की उपमा दी है, जिससे उनकी अध्यात्ममस्तदशा सूचित होती है।

महामुनि जंगल में रहते हैं, उनके वीतरागी दशा-अंतरस्वरूपलीनता विशेष प्रकट हुई होती है, ऐसे मुनि की यह सच्ची समिति मुक्तिराज्य का मूल है। परिपूर्ण ज्ञानानंद दशा की—मुक्तिदशा की कारणभूत यह समिति विषयवासनारक्त अज्ञानी को नहीं होती।

समितिसमितिं बुद्ध्वा मुक्त्यङ्गनाभिमतामिमां,
भवभयभयध्वांतप्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम्।
मुनिप तव सद्दीक्षाकान्तासखीधुना मुदा,
जिनमततपः सिद्धं यायाः फलं किमपि ध्रुवम्॥८९॥

हे मुनि! समितियों में की इस समिति को अब प्रमोद से जानकर, जिनमत-कथित तप से सिद्ध होनेवाले ऐसे कोई अनुपम ध्रुवफल को तू प्राप्त करेगा। कैसी है वह समिति? जो मुक्तिरूपी स्त्री-मुक्तिरूपी आत्मा की शुद्ध परमानंददशा को प्यारी है। यह पाँचवीं समिति अर्थात् आत्मा के ज्ञान-ध्यानसहित रमणता भव-भव के भयरूपी अंधकार को नाश करने के लिये पूर्णचंद्र की प्रभा समान है। जैसे चंद्रोदय होते ही अंधकार का नाश हो जाता है, वैसे ही यह समितिरूपी चंद्र भी राग-द्वेषरूपी अंधकार का नाशक है।

जो नग्नत्वरहित, वस्त्रसहित दीक्षा लेता है, वह सच्ची दीक्षा नहीं है। आत्मा के

भानसहित और शुभाशुभ विकल्परहित स्वभाव में टिकना वही वास्तविक कर्तव्य है, और वही सच्ची दीक्षा है। इस सच्ची दीक्षारूप प्रिय स्त्री की—दीक्षारूपी शुद्धपरिणति की—यह समिति सखी है। मुनिपने का ऐसा ही स्वरूप है। आत्मा के सच्चे भान बिना केवल चरणानुयोग के अनुसार मुनिपना माने—अंतर शुद्धदशारूप परिणमे बिना शुभराग और बाह्यक्रिया से मुनिपना माने—वह वास्तविक मुनिपना नहीं है। सच्चा मुनिपना तो अंतरभानसहित और वीतरागी रमणतापूर्वक ही है।

स्वभाव में रहना वह प्रमोद है। इस समिति को प्रमोद से जानकर हे मुनि! तू आत्मा के ज्ञान-ध्यान से अनुपम ध्रुवफल को प्राप्त करेगा—परिपूर्ण मुक्तदशा को पावेगा। वीतरागी मार्ग के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग में मुक्ति है ही नहीं। छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए वन को यहाँ तप कहा है। वीतरागमतकथित मुनिपना छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए वन में विचरते हुए को ही होता है—इसके अलावा अन्य रीति से मुनिपना माननेवाला वीतराग का, तीर्थंकर भगवान का, अनंत ज्ञानियों का विरोधी है। वीतरागी भगवान के द्वारा कहे हुए मुनिमार्ग को हम तप कहते हैं। ऐसे मुनिपनेवाला जीव अनुपम सुख पाता है—अन्य नहीं, क्योंकि अन्य के सच्चा मुनिपना नहीं होता।

समितिसंहतितः फलमुत्तमं, सपदि याति मुनिः परमार्थतः।
न च मनोवचसामपि गोचरं, किमपि केवलसौख्यसुधामयम्॥९०॥

समिति की संगति द्वारा वास्तव में मुनि मन से अचिंत्य और वाणी से अकथ्य ऐसा कोई केवल सुखामृतमय उत्तम फल शीघ्र पाते हैं। अंतर आत्मस्वभाव के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित इस समिति के संग द्वारा मुनि मन-वाणी के भी अगोचर ऐसा केवल सुखामतमय उत्तम फल शीघ्र पाते हैं और अल्पकाल में मुक्ति पाते हैं। ऐसे भावलिंगी दिगम्बर मुनि कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, पद्मप्रभमलधारिदेव इत्यादि अनेक धर्म के स्तंभ समान महासमर्थ निर्ग्रंथ मुनिवर हो गये हैं, वे अवश्य ही इस समिति के संग द्वारा उत्तम फल को-मोक्षदशा को पायेंगे।

धर्मी की दृष्टि सदा ध्रुव पर

जिसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई, उसकी दृष्टि अब चैतन्य के तल पर ही लगी है। उसमें परिणति एकमेक हो गयी है। चैतन्यतल में ही सहज दृष्टि है। स्वानुभूति के काल में या बाहर उपयोग हो तब भी तल पर से दृष्टि नहीं हटती, दृष्टि बाहर जाती ही नहीं। ज्ञानी चैतन्य के पाताल में पहुँच गये हैं; गहरी-गहरी गुफा में, बहुत गहराई तक पहुँच गये हैं; साधना की सहज दशा साधी हुई है ॥१२॥ [**'बहिनश्री के वचनामृत' पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन-दिनांक ९-८-८०**]

यह आत्मा के अनुभव में से निकली हुई बात है। यह बेन की वाणी अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद में से निकली है। उसका यह बारहवाँ बोल है। उसमें कहते हैं कि जिसे द्रव्य अर्थात् त्रिकालीवस्तु की दृष्टि प्रगटी, अनंतानंत शक्तियों के भंडार की दृष्टि जिसे प्रगट हुई, उसकी दृष्टि अब चैतन्य के तल पर ही है। धर्मी की दृष्टि पर्याय पर नहीं रहती, उसकी दृष्टि तो एकसमयवर्ती पर्याय के पीछे जो चैतन्यतल है, उस पर ही रहती है।

चौथे गुणस्थान में ज्ञानी की दृष्टि चैतन्यतल में एकमेक हो जाती है अर्थात् दृष्टि स्वभाव-सम्मुख हो जाती है। पर्याय और त्रिकालीध्रुव कहीं एकमेक नहीं हो जाते, पर्याय तो उत्पादरूप ही रहती है और वस्तु ध्रुवरूप ही रहती है। उत्पाद और ध्रुव अंश परस्पर एकमेक नहीं हो जाते, द्रव्य तो ध्रुवस्वरूप है और पर्याय उत्पाद-व्ययरूप है। ध्रुव कभी उत्पाद-व्यय में नहीं आता और उत्पाद-व्यय कभी ध्रुव में प्रविष्ट नहीं होते, इसलिये द्रव्य और पर्याय कभी एकमेक नहीं होते। परंतु अनादिकाल से पर्याय पर-सम्मुख थी, वह अब अनंत गुणों के अखंड-पिण्ड त्रिकाली ध्रुव आत्मा के सम्मुख हुई और अब वह अपने को त्रिकाली ध्रुवरूप अनुभव करती है, इसलिये धर्मी की परिणति चैतन्यतल में एकमेक हो गयी—ऐसा कहा जाता है।

चैतन्यतल पर धर्मी की दृष्टि सहज ही रहती है। एकबार ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि गयी फिर बार-बार वहाँ दृष्टि नहीं करनी पड़ती। ध्यान के समय पर्याय द्रव्य के ऊपर झुक जाती है, उससमय दृष्टि चैतन्यतल पर है ही; परंतु विकल्प के समय भी धर्मी की दृष्टि चैतन्यतल पर ही है। उपयोग भले ही स्वभाव से बाहर चला जाये परंतु दृष्टि तो बाहर जाती ही नहीं है।

आत्मा के अनुभव का समय हो अथवा युद्ध का समय हो, धर्मी की दृष्टि ध्रुवस्वभाव पर से नहीं हटती। भरत और बाहुबली दोनों सम्यग्दृष्टि युद्धक्षेत्र में खड़े थे, फिर भी दोनों की दृष्टि ध्रुवस्वभाव पर ही थी। धर्मी जीव लड़ाई में खड़े हों फिर भी उनकी दृष्टि द्रव्य पर से नहीं हटती। ध्यान, ध्याता और ध्येय के विकल्प से रहित निर्विकल्प ध्यान का काल हो या लड़ाई का काल हो—दोनों परिस्थितियों में ज्ञानी की दृष्टि ध्रुव पर ही रहती है। राजा श्रेणिक ने अंतिम समय में हीरा चूस लिया था, उससमय भी उसकी दृष्टि ध्रुवस्वभाव पर ही थी।

बहिन के अंदर-अनुभव में से यह बात आयी है। चतुर्थ-पंचम गुणस्थान में कभी-कभी निर्विकल्प दशा होती है। उससमय भी और उपयोग बाहर हो उससमय भी धर्मी की दृष्टि ध्रुव पर ही होती है। दृष्टि ध्रुव ऊपर गयी, उससमय से सदा ही ध्रुव ऊपर ही रहती है, चाहे उपयोग बाहर की ओर ही क्यों न हो।

जैसे माँ से बिछुड़े हुए छोटे बालक से चाहे जो पूछो, परंतु वह मेरी माँ.... मेरी माँ—यही रट लगाता रहता है; उसीप्रकार धर्मी का उपयोग स्वभाव से बिछुड़कर बाहर चला गया हो तो भी उसकी दृष्टि सदा ध्रुव पर ही रहती है। दृष्टि बाहर कहीं नहीं जाती। अरे! दृष्टि सम्यग्दर्शन-पर्याय पर भी नहीं जाती, वह तो ध्रुव पर ही रहती है।

ज्ञानी चैतन्य-पाताल में पहुँच गये हैं; पर्याय के पीछे विराजमान परमात्मा में पहुँच गये हैं, गहरी-गहरी चैतन्य गुफा की गहराई में पहुँच गये हैं। धर्मी ने साधना की सहज दशा साध ली है।

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

[गतांक से आगे]

टीकाकार कहते हैं कि जीव और पुद्गलों में ही, क्षेत्रांतर होकर, गमन करने की शक्ति है, अन्य चार द्रव्यों में नहीं।

कितने ही लोग यह मानते हैं कि जीव और पुद्गल द्रव्यों में क्रिया तो होती है, पर निमित्त के आने पर होती है, निमित्त के बिना नहीं होती। अतः उन्होंने वस्तुतः क्रिया को नहीं माना।

देखो! यह हाथ चलाया। यहाँ चलानेरूप क्रिया का वर्तमान उपादान कारण हाथ के परमाणु हैं, जो अपनी स्वतंत्र परिणमन शक्ति के कारण क्षेत्रांतर होते हैं। आत्मा की उपस्थिति अथवा धर्मास्तिकाय के कारण क्षेत्रांतर होते हों—ऐसा नहीं है; क्योंकि आत्मा एवं धर्मद्रव्य प्रेरक होकर हाथ को नहीं चलाते। आत्मा का क्षेत्रांतर शरीर के कारण एवं शरीर का क्षेत्रांतर आत्मा के कारण नहीं होता है। तथा यह भी नहीं है कि आत्मा के कारण कर्म को दूसरे क्षेत्र में जाना पड़े और कर्म के कारण आत्मा को क्षेत्रांतर होना पड़े।

संयोग के कारण परिणमन होता है—ऐसा मानने पर कर्मों के कारण आत्मा में विकार होता है—मानना पड़ेगा, जो आगम-सम्मत नहीं है। क्षेत्रांतर होने की क्रिया जीव और पुद्गल दोनों ही द्रव्यों में अपने कारण से स्वयमेव होती है—ऐसा न मानकर अन्य-अन्य कारणों से होती है, यह मानें तो जीव और पुद्गल क्रियावान् सिद्ध नहीं होंगे।

अग्नि-संयोग होने पर जल से बनी भाप (वाष्प) के कारण इंजन नहीं चलता। पेट्रोल के कारण मोटर नहीं चलती। घोड़े के कारण गाड़ी नहीं चलती और हाथी के कारण गजरथ नहीं चलते, क्योंकि प्रेरक निमित्त के कारण कोई वस्तु नहीं चलती। प्रत्येक परमाणु अथवा स्कंधों में क्षेत्रांतर होने की क्रिया स्वयं ही उनकी वर्तमान योग्यता के कारण ही होती है। अष्टसहस्री आदि शास्त्रों में निमित्त का कथन तो है, पर उसका आशय यह नहीं कि निमित्त

प्रेरक होकर क्रिया करता अथवा कराता है। अपितु निमित्त को नहीं माननेवाले वेदांतादि मतवालों को यह बताने के लिये है कि निमित्त भी है—इस प्रयोजन से, व्यवहारनय से निमित्त का कथन वहाँ किया गया है।

द्रव्य स्वतंत्र है और उसकी पर्याय भी स्वतंत्र है—ऐसा माने बिना द्रव्यदृष्टि नहीं होती। पंडित फूलचंदजी ने पंचाध्यायी के अनुवाद में लिखा है कि निमित्त के कारण उपादान में कार्य मानने पर अनवस्था दोष आता है। क्योंकि हाथ आत्मा की इच्छा के कारण चलता है, इच्छा कर्म के कारण होती है, और कर्म का परिणमन भी काल के कारण होता है—इत्यादि मानने पर काल का परिणमन किस कारण से माना जाये? कहीं भी बात ठहरती नहीं है, इसप्रकार अनवस्था दोष आता है।

अज्ञानी कहता है कि निमित्त से उपादान में कुछ कार्य होता है—ऐसा माना जाये तभी निमित्त को मानना होता है, नहीं तो नहीं होता।

उक्त बात ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों का कार्य स्वतंत्र है। निमित्त निमित्त में है और उपादान उपादान में, यही मानना यथार्थ है। राजवार्तिक में लिखा है कि यदि दवा से रोग नहीं मिटता हो तो सारे आयुर्वेदशास्त्र के झूठे होने का प्रसंग आता है। यहाँ कहने का आशय यह है कि जब रोग मिटता है, तब दवा का निमित्त होता है; दवा के कारण रोग मिटा हो—ऐसी बात नहीं है। वहाँ निमित्त के कर्तृत्व का पोषण नहीं, उपस्थिति का संकेत है।

देखो, आज जगह-जगह चर्चा चलती है कि निमित्त-उपादान की यह चर्चा सोनगढ़ वालों ने नई चलायी है, पहले नहीं थी। परंतु लोगों को कुछ भी खबर नहीं है। भाई! निमित्त-उपादान की बात (चर्चा) अनादि से है, शाश्वत है।

पर क्या करें? लोग पहले से चली आ रहीं अपनी मिथ्या मान्यताओं को ही सही मानते आ रहे हैं; भगवान की बात सुनते ही नहीं हैं। यहाँ तो आचार्य कहते हैं कि निमित्त-उपादान तो हमेशा से हैं। हमने आज तक उसे नहीं जाना था-यह भूल थी। जब तक इसका ख्याल नहीं होगा, भूल मिटने का अवकाश भी नहीं है।

रोटी बनती है, पर स्त्री के कारण नहीं, बेलन आदि के कारण भी नहीं; बेलन आदि भी हाथ की अंगुलियों से नहीं चलाये जाते—क्योंकि बेलन, रोटी आदि अनंत पुद्गल परमाणुओं के स्कंध हैं; उन्हें कौन परिणमाये? किसमें ऐसी सामर्थ्य है? पुद्गल भी जड़ेश्वर है। क्रिया

करने की सामर्थ्य स्वयं उसकी है, उसे कौन लूट सकता है। जिसकी जो शक्ति है सो है, दूसरा कोई भी उसे लूट नहीं सकता, न ही कुछ सहायता कर सकता है अर्थात् न ही उसमें अपनी शक्ति मिला सकता है।

स्वतंत्रतामूलक दृष्टि हुए बिना अनादिमूढ़ता समाप्त नहीं होती। अत: स्वतंत्र-स्वभाव की दृष्टि करना चाहिए। पर से भिन्न प्रत्येक द्रव्य सदा ही स्वतंत्र है। गुण और पर्यायें भी स्वतंत्र हैं—ऐसा जानकर स्वभावदृष्टि करना-यही धर्म है।

अब 'णिच्चं' शब्द का अर्थ करते हैं:—

धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य अर्थपर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं; तथापि मुख्यवृत्ति से इनमें व्यंजनपर्याय नहीं है-इसलिये नित्य हैं। तथा द्रव्यार्थिकनय से जीव और पुद्गल द्रव्य भी नित्य हैं, फिर भी अगुरुलघुगुण के परिणाम और व्यंजनपर्याय की अपेक्षा दोनों को अनित्य कहा जाता है।

देखो! छहद्रव्यों में कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य और अनित्य नहीं, नित्यानित्य है, क्योंकि उत्पाद-व्यय और ध्रुवपना सभी द्रव्यों का स्वरूप है। परंतु यहाँ पर दूसरी अपेक्षा से बात की है कि अर्थपर्याय के परिणमित होने पर भी व्यंजनपर्याय नहीं है, इसलिये चार द्रव्यों को नित्य कहा है। अस्तित्त्वादि अनंत गुणों का परिणमन हो रहा है, इसे मुख्य न करके विभावव्यंजनपर्याय की मुख्यता से नित्य और अनित्य भेद पड़ते हैं।

जीव और पुद्गल में विभावव्यंजनपर्याय होती है—इस अपेक्षा से उनको अनित्य कहा है। उनकी विभावव्यंजनपर्याय अन्य के कारण होती हो—ऐसी बात भी नहीं है। जैन सिद्धांत प्रवेशिका में विभावव्यंजनपर्याय की व्याख्या है कि अन्य निमित्त से जो पर्याय हो, वह विभावव्यंजन है। इस कथन में निमित्त के कर्तृत्व को लेकर बात नहीं है, अपितु विभावव्यंजनपर्याय के होने में कोई अन्य निमित्त होता है, इतना बताना है। अत: जहाँ जिस अपेक्षा से जो कथन किया गया हो, उसे वैसा ही समझना चाहिए।

किसी के माथे पर पोटली रखी है—इसका आशय यह है कि वह माथे के आधार पर नहीं है। पोटली पोटली के आधार पर एवं माथा माथे के आधार पर है। एक परमाणु के ऊपर पोटली नहीं रहती है, उसे छूती नहीं है; तो माथे पर कैसे रह सकती है? नहीं रह सकती। क्योंकि माथे में रहनेवाले अनंत पुद्गल परमाणु परस्पर एकमेक नहीं होते; पृथक्-पृथक् ही

रहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि पोटली अपने आधार पर अपनी योग्यता से रहती है।

पंद्रह मनुष्यों ने मिलकर पत्थर को ऊँचा किया—यह बात सिद्धांत के हिसाब से सही नहीं है, क्योंकि पंद्रह मनुष्यों की शक्ति भिन्न-भिन्न है, एक नहीं है। जब एक मनुष्य पत्थर नहीं उठा सकता तो पंद्रह मनुष्यों ने पत्थर उठाया—यह बात कहाँ से आई? वास्तव में बात यह है कि पत्थर अपनी योग्यता से ऊँचा उठा है, मनुष्य तो मात्र निमित्त है। जैसे कई पुद्गलपरमाणुओं से मिलकर स्कंध बना है-यह व्यवहार है, वैसे ही सभी ने मिलकर पत्थर उठाया, यह भी व्यवहार है।

जब एक भी परमाणु आत्मा को विकार नहीं कराता तो अनंत परमाणु मिलकर-कर्मरूप होकर आत्मा को विकार करायें-यह संभव नहीं है।

इस गाथा में प्रथम 'परिणामी' कहकर जीव और पुद्गल द्रव्यों को विभावव्यंजनपर्याय होने के कारण परिणामी और शेष को अपरिणामी कहा था। अब 'णिच्चं' शब्द से उसी को स्पष्ट किया है कि चार द्रव्यों को विभावव्यंजनपर्याय नहीं होती, इसलिए वे नित्य हैं तथा जीव और पुद्गल की विभावव्यंजनपर्याय होने से उन्हें अनित्य कहा है—इसप्रकार 'परिणामी' बोल के साथ मेल बैठता है। [क्रमशः]

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न- व्यवहारप्रतिक्रमणादि कब सफल कहे जावें ?

उत्तर- हमारे वीतराग संतों ने शास्त्रों में द्रव्यश्रुतात्मक व्यवहारप्रतिक्रमण कहे हैं—उन्हें सुनकर, जानकर, सकल संयम की भावना करे उसे व्यवहारप्रतिक्रमण का जानपना सफल है—सार्थक है। प्रतिक्रमण आदि जितने प्रकार के व्यवहार शास्त्र में कहे हैं, वे सब व्यवहार बंध के कारण हैं; उन्हें छोड़कर अंदर आनंदस्वरूप में जाने पर ही व्यवहार का सफलपना कहा गया है। जितना भी क्रियाकांड-व्यवहार कहने में आता है, उसे छोड़कर शुद्धस्वरूप के अनुभव में निमग्न हो, तभी व्यवहार के जानपने की सफलता कही गई है। जो शुद्धस्वरूप के सन्मुख तो होता नहीं और मात्र व्यवहार में ही लीन रहकर आत्मा के आनंदस्वरूप में नहीं जाता तो उसका व्यवहार केवल संसारभ्रमण का ही कारण है।

प्रश्न- व्यवहार से निश्चय होता है-ऐसा यहाँ कहा कि नहीं ?

उत्तर- व्यवहार से निश्चय होता है-ऐसा नहीं कहा; किंतु व्यवहार को जानकर, उसका लक्ष्य छोड़कर, निश्चय आनंदस्वरूप में जाने को कहा है। व्यवहार छोड़कर आनंदस्वरूप आत्मा में जाये, वीतरागस्वरूप आत्मा में जाये, उसको व्यवहार जानने का सफलपना कहा है। जो वीतरागस्वरूप आत्मा में ढलता है, उसी के व्यवहार को निमित्तपना कहा है; किंतु जो व्यवहार में ही खड़ा रहे और निश्चयस्वरूप में जावे नहीं; उसके व्यवहार का सफलपना नहीं होता और उसके व्यवहार को व्यवहार भी नहीं कहते।

प्रश्न- लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण आदि करने से आत्मा शुद्ध हो जाता है, तो फिर पहले से ही शुद्धात्मा के अवलंबन का खेद करने से क्या लाभ ?

उत्तर- शुद्धात्मा के भानरहित जो प्रतिक्रमणादि हैं, वे दोष को घटाने-टालने में समर्थ नहीं हैं।

कारण यह है कि जिसे आत्मा का अवलंबन नहीं हुआ उसे तो राग में एकताबुद्धि होती है, उसके शुभराग के क्रियाकांड मात्रदोषरूप ही हैं—दोष मिटाने में समर्थ नहीं हैं। अज्ञानी के प्रतिक्रमणादि तो पापरूप विषकुंभ ही हैं, और शुभरागरूप प्रतिक्रमणादि भी आत्मा का अवलंबन नहीं होने से उसके लिये तो विषयकुंभ ही हैं। ज्ञानी के प्रतिक्रमणादि को आत्मा का अवलंबन होने से व्यवहारनय से ही अमृतकुंभ कहा है। ज्ञानी जब स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता तब अशुभ से बचने के लिये शुभराग आता है। आचार शास्त्रों में जितनी भी शुभक्रियाकांड की बात आती है, वह व्यवहारनय से ही अमृतकुंभ कही गई है, निश्चयनय से तो वह विषरूप ही है-बंधरूप ही है।

प्रश्न- ज्ञानी का व्यवहारप्रतिक्रमण भी बंध का कारण है-ऐसा कहने का प्रयोजन क्या ?

उत्तर- निश्चयदृष्टिवाले ज्ञानी का व्यवहारप्रतिक्रमण आदि भी बंध का कारण है-ऐसा कहकर व्यवहार का आलंबन छुड़ाया है। जिनेन्द्र का स्मरण, भक्ति, स्वाध्याय, मंदिर-निर्माण, प्रतिष्ठा कराना, शास्त्र-रचना, व्रत, तप आदि अनेक प्रकार के शुभ आलंबन में चित्त का भ्रमण होता होने से उनका आलंबन भी छुड़ाकर शुद्धस्वरूप के स्तंभ से चित्त को बाँधने का प्रयोजन है—शुद्धस्वरूप के आलंबन कराने का प्रयोजन है।

प्रश्न- यह सब-कुछ जानने में आता है, फिर भी आत्मा जानने में क्यों नहीं आता ?

उत्तर- यह सब ज्ञात हो रहा है, उसका ज्ञाता कौन है ? जिस सत्ता में यह सब जानने में आ रहा है, उसका जाननेवाला जानने में नहीं आता—यही भ्रम है। यह शरीर है, मकान है, धन है, स्त्री-पुत्रादि हैं, ऐसा जो जानने में आता है, वह किसमें ज्ञात होता है ? यह सब जाना जाता है, वह जाननेवाले की सत्ता में ज्ञात होता है। जाननेवाले की सत्ता की मुख्यता में यह सब ज्ञात होता है। इस जाननेवाले को जाने नहीं, माने नहीं; यह भ्रम ही चौरासी के अवतार में भटकाने का कारण है। शरीरादि तो इस जाननेवाले से भिन्न वस्तु है, उससे भिन्न रहकर जाननेवाला अपनी सत्ता में खड़ा रहकर जानता है। इस जाननेवाले को जाने और माने तो भव-भ्रमण से छुटकारा मिल सकता है।

प्रश्न- शुद्धस्वरूप का इतना विशाल स्तंभ दिखलाई क्यों नहीं पड़ता ?

उत्तर- दृष्टि बाहर ही बाहर भ्रमावे उसको कैसे दिखाई पड़े ? पुण्य के भाव में बड़प्पन देखा करता है, परंतु अंदर जो महान प्रभु विशाल पड़ा है, उसे देखने का प्रयत्न नहीं करता। यदि उसे देखने का प्रयत्न करे तो अवश्य दिखाई पड़े।

प्रश्न- इंद्रियगम्य यदि आत्मा होता तो बहुत सरल हो जाता ?

उत्तर- किंतु इंद्रियाँ आत्मा में तो हैं नहीं। उनसे गम्य कैसे हो ? शरीर, इंद्रियाँ और इंद्रियों के विषय—भगवान, वाणी आदि को भी इंद्रिय कहा गया है। यहाँ इंद्रियाँ आत्मा में हैं ही नहीं, इसलिये उनके द्वारा आत्मा गम्य नहीं होता। आत्मा तो अतीन्द्रियज्ञान से ही गम्य होता है।

प्रश्न- आत्मा की रुचिवाला जीव मरकर जीव में ही जाता है न ?

उत्तर- हाँ, तत्त्व की रुचि है, वाचन-श्रवण है, भक्ति, पूजा आदि है—इनका करनेवाला तो देव ही होता है। कोई साधारण हो तो वह मनुष्य होता है।

प्रश्न- देव होता है तो कैसा देव होता है ?

उत्तर- वह तो अपनी योग्यतानुसार भवनत्रिक या वैमानिक में जाये, तथा आत्मानुभवी तो वैमानिक में ही जाये।

प्रश्न- यह जीव अजीव का तो कार्य नहीं कर सकता, किंतु आत्मा परिणाम तो जैसा चाहे वैसा कर सकता है ?

उत्तर- जीव अपना परिणाम भी चाहे जैसा नहीं कर सकता; किंतु जो परिणाम क्रमसार जैसा होना है, वैसा ही होगा; आगे-पीछे, जैसा-जैसा करना चाहे तो नहीं होगा। जीव तो अकेला ज्ञायकभावमात्र है, जाननहारा-जाननहारा ही है।

प्रश्न- आत्मा मात्र जाननेवाला ही है—ऐसा आपने कहा। अब इसमें करने के लिये रह ही क्या गया ?

उत्तर- अरे भाई ! इसमें तो अपार करने के लिए है। देहादि परद्रव्य की तरफ जो लक्ष्य जाता है, उस लक्ष्य को जाननेवाला ऐसा जो अपना आत्मा, उस आत्मा को जानने में उपयोग को लगाना है। आत्मा को जानने में तो अनंत पुरुषार्थ आता है।

प्रश्न- तिर्यंच को ज्ञानविशेष नहीं होने पर भी आत्मा अनुभव में आ जाता है, और हमें कठिन परिश्रम करने पर भी नहीं आता ?

उत्तर- जिस जाति का अंदर में जोर आना चाहिए वह नहीं आता। ज्ञान में जितना माहात्म्य आत्मा का आना चाहिए उतना नहीं आता, जितना वजन आना चाहिए उतना नहीं आता-इसलिये अनुभव नहीं होता।

प्रश्न- शुद्धनय का पक्ष हुआ है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर- शुद्धनय का पक्ष होने का आशय है, शुद्धात्मा की रुचि होना। अनुभव अभी हुआ नहीं है, किंतु रुचि ऐसी हुई है कि अनुभव होगा ही; परंतु यह होने पर भी कहीं संतोष कर लेने की बात नहीं है। इस जीव के संबंध में केवली ऐसा जानते हैं कि इस जीव की रुचि इतनी प्रबल है कि अनुभव करेगा ही। इस जीव को ऐसा ज्ञायक का जोर वीर्य में वर्तता है-यह केवली जानते हैं।

प्रश्न- समयसार गाथा ६ में समस्त अन्य द्रव्य के भावों से भिन्नपने उपासने में आता हुआ 'शुद्ध' कहा जाता है—ऐसा कहा। यहाँ विकार से भिन्न उपासने में आता है-ऐसा क्यों नहीं कहा ?

उत्तर- अन्य द्रव्य के भावों से भिन्न उपासने पर विकार और पर्याय के ऊपर का भी लक्ष्य छूटकर स्वद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है।

प्रश्न- आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्तपने नहीं होता, इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर- आत्मा शुभ-अशुभरूप नहीं होता। यदि शुभ-अशुभरूप हो तो प्रमत्त-अप्रमत्तरूप हो, किंतु शुद्धात्मा शुभाशुभरूप से नहीं परिणमता, इसलिये प्रमत्त-अप्रमत्तरूप से भी नहीं होता। अप्रमत्त सातवें गुणस्थान से तेरहवें तक है, उस पर्यायरूप आत्मा नहीं होता। आत्मा एकरूप ज्ञायकभावस्वरूप है। शुभाशुभरूप नहीं होता इसलिये प्रमत्तरूप नहीं होता, और प्रमत्तरूप होता हो तो उसका अभाव करके अप्रमत्तरूप हो। आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त की पर्याय के भेदरूप नहीं होता। एकरूप ज्ञायकभावस्वरूप ही है।

प्रश्न- पर्याय को भी द्रव्य नहीं करता, ऐसा कहकर द्रव्य को बिल्कुल निष्कर्मा कर दिया ?

उत्तर- अरे भाई ! यह तो अंतर पेट की मूल बात है। इसमें द्रव्य निष्कर्मा नहीं हो जाता, अपितु अलौकिक द्रव्य सिद्ध होता है।

प्रश्न- एक ओर तो पर्याय को क्रमबद्ध कहते हो और दूसरी ओर पर्याय के ऊपर से दृष्टि हटाने को भी कहते हो-ऐसा कैसे ?

उत्तर- पर्याय क्रमबद्ध होती है—ऐसा जाने तो पर्याय का कर्तृत्व छूटकर अकर्ता स्वभावी द्रव्य के ऊपर दृष्टि जाती है। क्रमबद्ध के ऊपर दृष्टि रखकर क्रमबद्ध का निर्णय नहीं होता। द्रव्य के ऊपर दृष्टि करने पर ही, क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है। अरे ! क्रमबद्ध तो सर्वज्ञ का प्राण है।

प्रश्न- क्रमबद्ध में क्रमबद्ध की विशेषता है कि द्रव्य की ?

उत्तर- क्रमबद्ध में ज्ञायकद्रव्य की विशेषता है। क्रमबद्ध में अकर्तापना सिद्ध करके ज्ञायकपना बताना है।

प्रश्न- आत्मसंस्कारों को दृढ़ करने के लिये क्या करना ?

उत्तर- वस्तुस्वरूप का निर्णय दृढ़ करना। शुद्ध हूँ, एक हूँ, ज्ञायक हूँ, इसका चारों तरफ से बारंबार निर्णय पक्का करके दृढ़ करना।

प्रश्न- श्रद्धान के दोष और चारित्र के दोष में क्या अंतर है ?

उत्तर- श्रद्धान के दोष और चारित्र के दोष में महान अंतर है। सम्यग्दृष्टि दो भाई युद्ध करें, जीवों की हिंसा हो, तथापि इस शरीर की क्रिया का और राग का कर्ता उनमें से एक भी नहीं, दोनों ज्ञाता ही हैं। और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी एकेन्द्रियजीव का भी घात करे नहीं, तथापि वह काया और कषाय में एकत्वबुद्धिवाला होने से कर्ता है, षट्काय का घातक है। आहाहा! चारित्र के दोष की अल्पता कितनी कि दो भाई लड़ें तो भी मोक्ष जावें; और श्रद्धान के दोष की महानता इतनी कि विपरीत परिणमन के फल में नरक-निगोद जावें। मूल आत्मदर्शन बिना चाहे जितनी साधुपने की क्रिया करे, किंतु सभी व्यर्थ है। छह माह के उपवास करे, त्याग करे, फिर भी आत्मज्ञान बिना वह सब शून्य है, रण में पोक समान है। भाई! प्रभु का मार्ग अत्यंत निराला अंतर का है, इसके समझने में बहुत प्रयत्न चाहिये।

प्रश्न- यदि मुनियों के वाणी का कर्तृत्व नहीं है तो वे उपदेश क्यों देते हैं ?

उत्तर- अरे भाई! मुनिराज उपदेश देते ही नहीं, वे तो उपदेश को जानते हैं। भगवान कहते हैं, जिनवर कहते हैं—ऐसा शास्त्र में कथन आता है; किंतु भगवान कहते ही नहीं, भगवान तो वाणी को जानते ही हैं, वास्तव में तो 'स्व' को ही जानते हैं। स्व-पर जानना सहज है, पर की अपेक्षा ही नहीं, जानने का स्वभाव ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं अपने निज-वैभव से कहूँगा। तुम प्रमाण करना। अरे भगवान! वाणी तुम्हारी तो नहीं है न? वाणी से ज्ञान भी नहीं होता भाई। आहाहा! गजब बात है, अद्भुत बात है, वस्तु का स्वरूप ही अद्भुत है। निमित्त-नैमित्तिक के कथन एक सर्वज्ञ के मार्ग में ही हैं, अन्यत्र नहीं।

समाचार दर्शन

सोनगढ़ - पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी सुख-शांति में विराजमान हैं। अभी कुछ दिनों से उनका स्वास्थ्य खराब चल रहा है; एक दिन अच्छा रहता है तो दूसरे दिन खराब। अभी यही स्थिति बनी हुई है। प्रवचन अभी बंद हैं, कब आरंभ होंगे यह कुछ कहा नहीं जा सकता। वैसे कुछ समय के लिये पूज्य स्वामीजी चर्चा में कभी-कभी बैठते हैं।

पंडित ज्ञानचंदजी द्वारा विशेष प्रभावना

६ अक्टूबर से २० अक्टूबर ८० तक पंडित ज्ञानचंदजी विदिशावाले करेली, जबलपुर, शहपुरा-भिटौनी, पिंडरई गाँव, मंडला, डिंडोरी, सिवनी तथा छिंदवाड़ा पधारे। सभी स्थानों पर आपके तीनों समय मोक्षमार्गप्रकाशक, समयसार कलश तथा छहढाला पर अत्यंत मार्मिक प्रवचन हुए। समाज ने अपूर्व उत्साहपूर्वक धर्म लाभ लिया। आपने कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट द्वारा हो रही तीर्थक्षेत्रों एवं जिनवाणी की सुरक्षा पर प्रकाश डालते हुए श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धांत महाविद्यालय के संबंध में विस्तृत चर्चा की। समाज ने उक्त संस्थाओं द्वारा हो रहे कार्यों की मुक्त कंठ से सराहना की। तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट को पूर्व घोषित राशि में से ३९,२५४ रुपए तथा नये १९,७५० रुपए—इसप्रकार कुल मिलाकर ५९,००४ रुपए प्राप्त हुए।

— माणिकलाल आर० गाँधी, मंत्री

सिद्धचक्र मंडल विधान संपन्न

मंदसौर (म०प्र०) - सिद्धचक्र मंडल विधान के आयोजन के अवसर पर श्री टोडरमल सिद्धांत महाविद्यालय, जयपुर के छात्र पंडित प्रदीपकुमारजी झांझरी एवं पंडित अशोककुमारजी लुहाड़िया पधारे। २० से २४ अक्टूबर तक श्री लुहाड़ियाजी के एवं २५ से २८ अक्टूबर तक श्री झांझरीजी के दोनों समय मार्मिक प्रवचन नियमित चलते थे। इस अवसर पर १४००) रुपये का साहित्य बिका तथा युवा फैडरेशन की शाखा एवं वीतराग-विज्ञान पाठशाला की स्थापना की गयी। युवा फैडरेशन की उज्जैन शाखा द्वारा अकलंक-निकलंक नाटक का सफल अभिनय किया गया।

— जगदीश जैन

वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की निरीक्षण रिपोर्ट

भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति के निरीक्षक श्री पंडित रमेशचंदजी जैन ने दशलक्षण पर्व के पश्चात् नागदा, उज्जैन, मक्सी, महिदपुर, गरोठ, भानपुरा, झालावाड़,

झालरापाटन, बाराँ, रूठिआई, गुना, ब्याना और वदरवास आदि नगरों का दौरा किया तथा इन नगरों में चल रही पाठशालाओं का निरीक्षण किया। नागदा जंक्शन में नई पाठशाला प्रारंभ हुई तथा भानपुरा में पाठशाला तीन वर्षों से बंद थी जो पुनः चालू करायी।

निरीक्षक महोदय ने गुना में चल रही वीतरागविज्ञान पाठशाला में छात्रों की उपस्थिति, उनकी पढ़ाई का स्तर व अध्यापकों और व्यवस्थापकों की लगन की खूब सराहना की है। गरोठ, ब्याना की पाशालाओं की भी आपने प्रशंसा की है।

महाराष्ट्र प्रांत में लगभग १०० वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ खुल चुकी हैं और इनके निरीक्षण में श्री हरकचंद दीपचंद गंगवाल का महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त हो रहा है। — मंत्री

शिपुर में आध्यात्मिक शिक्षण शिविर

कार्तिकी अष्टाह्निका पर्व के आधार पर दिनांक १३-११-८० से २२-११-८० तक श्री अंतरीक्ष पार्श्वनाथ दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र, शिरपुर (जिला अकोला, महाराष्ट्र) में एक दस दिवसीय शिक्षण शिविर का आयोजन किया गया है। इस शिविर में बालबोध पाठशाला भाग १, २, ३ पर प्रशिक्षण का पूर्वाभ्यास कराया जायेगा।

पंडित केसरीचंदजी 'धवल' कोथली, पंडिम कोमलचंदजी टडा, पंडित राजकुमारजी, पंडित महावीर पाटील, पंडित शांतिकुमारजी पाटील जयपुर, पंडित नेमीचंदजी पाटनी कन्नड़, पंडित चंपकलालजी बम्बई की शिविर में पधारने की स्वीकृति प्राप्त हो गयी है।

— डॉ० विजयलक्ष्मी पांगल

फार्म भरकर भेजें

श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४ द्वारा फरवरी, १९८१ में ली जानेवाली शीतकालीन परीक्षाओं के लिये प्रवेशफार्म भरकर भेजने की अंतिम तिथि ३१ अक्टूबर से बढ़ाकर ३० नवंबर तक कर दी गई है। संबंधित संस्थाएँ बिना लेट फीस दिये बढ़ाई हुई तिथि ३० नवंबर से पूर्व फार्म भरकर अवश्य भेज दें। — मंत्री

आवश्यकता है - ऐसे अध्यापकों की जो निम्नांकित स्थानों की जैन पाठशालाओं में अध्यापन कार्य कर सकें। श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड जयपुर द्वारा प्रशिक्षित एवं प्रवचन कार्य में दक्ष अध्यापक को प्राथमिकता दी जायेगी। वेतन योग्यतानुसार। संपर्क करें—

(१) गयाप्रसाद जैन, नया बाजार, मु०पो० गंजबासौदा, जिला विदिशा (म०प्र०)

(२) पी० सी० जैन, एडवोकेट, गाँधीनगर, इटारसी (म०प्र०)

(३) पी० के० अजमेरा, द्वारा-प्रवीन इंटरप्राइजेज, गाँधी बाजार, भीलवाड़ा (राज०)

(४) जुगमंदरलाल जैन वकील, मंत्री जैन समाज, खंडवा (म०प्र०)

(५) मंत्री, दि० जैन समाज, मु०पो० बयाना, जिला भरतपुर (राज०)

फ्री मंगा लें :- डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल की लोकप्रिय कृति 'क्रमबद्धपर्याय', सजिल्द, डेमी साइज, पृष्ठ १५२; दिगम्बर जैन मंदिरों, पुस्तकालयों, मुनिराजों, त्यागियों एवं विद्वानों को श्री सेठ मीठालाल जुगराजजी जैन बम्बई एवं उनके परिवार की ओर से भेंटस्वरूप दी जा रही है। इच्छुक बन्धु ५० पैसे के पोस्टेड टिकिट भेजकर मंगा लें।

— हेमचंद जैन 'चेतन', पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४ बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रबंध संपादक की कलम से

कृपया निम्नलिखित सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें:—

(१) जिन ग्राहकों के 'भेंट कूपन' आत्मधर्म कार्यालय में प्राप्त हुए हैं, उन्हें क्रमशः भेंटस्वरूप 'क्रमबद्धपर्याय' पुस्तक भेजी जा रही है।

(२) यदि आपका पता बदल गया हो तो कृपया उसकी सूचना ग्राहक नंबर लिखकर तुरंत भेजें ताकि आपको नये पते पर आत्मधर्म भेजने की व्यवस्था की जा सके।

(३) सदस्यता शुल्क चैक द्वारा भेजने का कष्ट न करें।

(४) आत्मधर्म कार्यालय में जिन बंधुओं की आत्मधर्म का अंक न मिलने की शिकायत आती है, उन्हें स्टॉक में रहने तक दुबारा अंक भेज दिया जाता है। सभी पत्रों का उत्तर दे पाना संभव नहीं है।

महावीर निर्वाण महोत्सव संपन्न

जयपुर (राज०) - दिनांक ८-११-८० को राजस्थान जैन सभा के तत्त्वावधान में बड़े दीवानजी के मंदिर के विशाल चौक में भगवान महावीर का २५०६ वाँ निर्वाण महोत्सव डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल की अध्यक्षता में मनाया गया। जिसमें पंडित मिलापचंदजी, श्री ज्ञानचंदजी बिल्टीवाले एवं डॉ० भारिल्लजी के महत्वपूर्ण व्याख्यान हुए। सभा का संचालन राजस्थान जैन सभा के मंत्री श्री रतनलालजी छाबड़ा ने किया। दिनांक ७-११-८० को निर्वाण लाडू चढ़ाने के तत्काल बाद टोडरमल स्मारक भवन में भी डॉ० भारिल्लजी का मार्मिक प्रवचन हुआ।

अष्टाह्निका पर्व पर कौन कहाँ ?

अ० भा० जैन युवा फैडरेशन के तत्त्वावधान में प्रतिवर्षानुसार निम्न स्थानों पर विद्वान भेजने की व्यवस्था की गयी है :—

बम्बई - पंडित जतीशचंदजी शास्त्री, पंडित अभयकुमारजी शास्त्री; **अशोकनगर** - पंडित प्रदीपकुमारजी झांझरी, पंडित राकेशकुमारजी शास्त्री, पंडित नरेन्द्रकुमारजी शास्त्री; **भिंडर** - ब्रह्मचारी अभिनंदनकुमारजी शास्त्री, पंडित योगेशचंदजी शास्त्री; **फुटेरा** - पंडित कैलाशचंदजी 'अचल'; **शिरपुर** - पंडित राजकुमारजी शास्त्री, पंडित कोमलचंदजी टडावाले, पंडित महावीर पाटिल शास्त्री, पंडित शांतिकुमार पाटिल शास्त्री; **करहल एवं भोगाँव** - पंडित सुदीपकुमारजी शास्त्री; **ललितपुर** - पंडित प्रेमचंदजी शास्त्री; **मौ** - पंडित भानुकुमारजी शास्त्री; **बक्सवाह** - पंडित संतोषकुमारजी शास्त्री; **भीलवाड़ा** - पंडित उग्रसेनजी बंडी।

फरवरी सन् १९८१ में होनेवाली जनगणना में धर्म के कालम में जैन लिखाऐं

कहान कथा : महान कथा

आलेख : अखिल बंसल, एम.ए.
चित्रकथा : अनन्त कुशवाहा

Registration. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन *

समयसार	१४-००
मोक्षशास्त्र	१२-००
समयसार कलश टीका	६-००
प्रवचनसार	१२-००
पंचास्तिकाय	७-५०
नियमसार	७-५०
नियमसार पद्यानुवाद	०-४०
अष्टपाहुड़	१०-००
वृहद् द्रव्यसंग्रह	८-००
समयसार नाटक	७-५०
द्रव्यदृष्टिप्रकाश भाग ३	४-५०
समयसार प्रवचन भाग १	६-००
समयसार प्रवचन भाग २	७-००
समयसार प्रवचन भाग ३	७-००
समयसार प्रवचन भाग ४	८-००
पुरुषार्थसिद्धयुपाय	५-००
धर्म की क्रिया	२-००
श्रावकधर्म प्रकाश	४-००
द्रव्यसंग्रह	१-५०
प्रवचन परमागम	२-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-५०
जैनतत्त्व मीमांसा	६-००
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०
वीतराग-विज्ञान भाग ३	१-००
मुक्ति का मार्ग	१-००
बालपोथी भाग १	०-६०
बालपोथी भाग २	०-६०
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
बालबोध पाठमाला भाग ३	०-८५
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-४०
सुंदरलेख बालबोध पाठमाला भाग १	०-४०
A Short Reader to Jain Doctrines	०-७५
Tirthankar Bhagwan Mahavira	०-४०
Know Thyself	०-४०
मोक्षमार्गप्रकाशक	६-००
पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	५-००
" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)	२-००
मैं कौन हूँ ?	१-००
तीर्थंकर भगवान महावीर	०-४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	०-२५
अर्चना (पूजा संग्रह)	०-४०
मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)	०-५०
युगपुरुष श्री कानजीस्वामी	१-००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३-००
सत्य की खोज (भाग १)	२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय — साधारण :	२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय — सजिल्द :	३-००
धर्म के दशलक्षण — साधारण :	४-००
धर्म के दशलक्षण — सजिल्द :	५-००
क्रमबद्धपर्याय — साधारण :	२-५०
क्रमबद्धपर्याय — सजिल्द :	३-५०
क्रमबद्धपर्याय — प्लास्टिक कवर :	४-५०

Licence No.
P. P. 16-S.S.P. Jaipur City Dn.
Licensed to Post
Without Pre-Payment

If undelivered please return to :
प्रबन्ध-संपादक, आत्मधर्म
ए-४, टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर
जयपुर ३०२००४